

ऐसे क्या पाप किए

जान रहा हूँ देख रहा हूँ

कल्पित कथा

पण्डित रतनचन्द भा

समाधि अ

पण्डित

ये तो ...

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य का
दार्शनिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन

- डॉ. जिनेन्द्र शास्त्री

प्रकाशकीय

किसी लेखक के जीवनकाल में ही उसके साहित्य का मूल्यांकन करते हुए उसे शोध का विषय बना दिया जाये अथवा उसके साहित्य पर शोध कार्य हो जाये, तो यह अपने आप में गौरव का विषय है। ऐसा कम ही होता है, किन्तु पण्डित रतनचंद भारिल्ल के साहित्य का अनुशीलन होना, उनके जीते जी उन पर पीएच.डी. के लिए शोध कार्य का होना निश्चय ही प्रसन्नता का विषय है।

शोधार्थी श्रीयुत जिनेन्द्र शास्त्री की हार्दिक भावना थी कि वे बड़े दादा पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के साहित्य पर ही पीएच.डी. करे, क्योंकि उन्होंने भारिल्लजी के साहित्य को न केवल पढ़ा था, बल्कि वे उससे प्रभावित भी हुए थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि वे भारिल्लजी के बारे में अपने हार्दिक उद्गार व्यक्त करें। प्रसन्नता का विषय है कि उनकी वह भावना भी पूरी हुई।

जिनेन्द्र शास्त्री भारिल्लजी के प्रिय शिष्य तो थे ही, वे मेरे भी विद्यार्थी रहे हैं। मुझे विश्वास था कि वे कुछ न कुछ कमाल अवश्य करेंगे। वे जिस काम को हाथ में लेते हैं, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं।

अध्यात्म जगत के अधिकारी विद्वान पण्डित श्री रतनचंदजी भारिल्ल महाविद्यालय के प्राचार्य तो प्रारंभ से हैं ही, जैनपथप्रदर्शक के कुशल सम्पादक भी हैं। उनका सम्पूर्ण साहित्य अनेक भाषाओं में अनूदित होकर अनेक संस्करणों में प्रकाशित है। उनकी छप्पन पुस्तकें तो स्वलिखित हैं, विविध विषयों पर लिखित लेख तो बहु संख्यक हैं।

आपने गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती में हुए समयसार के प्रवचनों का छह हजार की बृहद् संख्या में गुजराती भाषा से हिन्दी भाषान्तर किया है, जो ग्यारह भागों में प्रकाशित है।

भारिल्लजी अत्यन्त सरल स्वभावी, मितभाषी विद्वान हैं। उनके व्यक्तित्व की पहचान के लिए उनका साहित्य अवश्य पढ़ें।

— ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

अपनी बात

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल की सर्जनात्मक प्रतिभा नाना रूपों में प्रस्फुटित हुई है। कवि, नाटककार, कथाकार, निबन्धकार, विचारक आदि रूपों में वे एक चिन्तक-दार्शनिक हैं। जैन साहित्य का उनका अध्ययन गहन एवं विशद है, वे तार्किक हैं। अपनी बात कहने, उसे तर्क संगत बनाने में उनकी दक्षता अदभुत है। उनकी यह विशेषता उनके लेखन में, व्याख्यानों में सर्वत्र विद्यमान है।

यद्यपि पण्डित भारिल्ल जी के साहित्य तथा व्यक्तित्व को लेकर कतिपय विद्वानों ने पण्डित भारिल्ल की प्रशंसा में अपने विचार व्यक्त किए हैं। इसके बावजूद बहुत कुछ ऐसा शेष रह जाता है, जिस पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है। यह शोध-प्रबन्ध उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व को समझने का ही विनम्र प्रयास है।

बात यह है कि ज्यों-ज्यों उनके साहित्य-सरोवर में गहरे और गहरे उतरते हैं, त्यों-त्यों सोच के विविध आयामों से साक्षात्कार होता जाता है।

बड़े दादा नाम से विख्यात पण्डित भारिल्ल जी के साहित्य के प्रति मेरे मन में सदैव ही आकर्षण के भाव रहे हैं। वास्तव में यही तथ्य मुझे उनके साहित्य-सरोवर में अवगाहन करने को प्रेरित करता रहा है।

वे अध्यात्म-जगत के मनीषी हैं। उनका चिन्तन मौलिक है तथा उसका मुख्य आधार जैन-दर्शन है। उनका यही एकमात्र ऐसा क्षेत्र है जो उन्हें अहिर्निश, कुछ न कुछ नया सोचने/कहने को प्रेरित करता रहा है। एक अच्छे वक्ता के रूप में भी वे सुविख्यात हैं। जैनधर्म के सभी विषयों पर उन्होंने अपनी लेखनी चलाई है। अपनी कलम से मुख्यतः धर्म से तादात्म्य संबंध बना कर रखा है।

इनका लेखन कहानी, उपन्यास, निबन्ध तथा पद्य के रूप में प्रचुर-परिमाण में उपलब्ध है, जो कई भाषाओं में अनुवादित होकर, लाखों पाठकों तक पहुँचता रहा है।

यह सही है कि आर्थिक विषमता उनकी राह में अवरोध उत्पन्न करती रही है, लेकिन वे दृढ़ संकल्प के बलबूते पर लगातार चलते रहे, आगे बढ़ते रहे। विद्यार्जन उनका स्वभाव है। उसी से प्रेरित, परिचालित हो उन्होंने अपनी उच्च शिक्षा पूर्ण की। अध्यात्म के प्रति उनके रुझान, लगाव का सारा

श्रेय गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को जाता है। जब आप 22 वर्ष के थे, तभी से आप श्री कानजी स्वामी के सम्पर्क में आए। उनके सान्निध्य ने इनके जीवन की दिशा ही बदल दी। साहित्य के प्रचार-प्रसार में भी आपका उल्लेखनीय योगदान अनुकरणीय है।

मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में जहाँ उनके व्यक्तित्व के विविध पहलुओं पर विचार किया है, वहीं उनके साहित्यिक अवदान को भी अपने अनुशीलन का आवश्यक हिस्सा बनाया है। सच पूछा जाये तो उनके सृजनात्मक साहित्य का अनुशीलन ही मेरे शोध का वास्तविक अभिप्रेत है। गद्य-पद्य पर उन्होंने समान रूप से लेखनी चलाई है और एक से बढ़कर एक अच्छी रचना से जैन ही नहीं अपितु जैनोत्तर समाज और साहित्य को भी लाभान्वित किया है। साहित्य की शायद ही कोई विधा ऐसी रही हो जिस पर उन्होंने अपनी लेखनी नहीं चलाई हो। काव्य, कहानी, उपन्यास तथा गद्य लेखों की दृष्टि से उनकी लेखनी का चमत्कार किसको चमत्कृत नहीं कर देगा? उनकी वर्णन शैली, तार्किकता, कल्पनाशीलता पाठक पर स्थायी प्रभाव डालने की क्षमता से ओतप्रोत है।

पण्डित भारिल्ल के साहित्य में हम साहित्य और अध्यात्म का मणि-कांचन योग पाते हैं। कुन्दकुन्द के निर्विवाद व्याख्याता के रूप में उन्हें ले सकते हैं। विषय कितना ही कठिन क्यों न हो, लेकिन उसे जिस सरलता और सहजता से पाठकों के समक्ष रखते हैं, उसका कोई सानी नहीं है। 'विदाई की वेला' में उनकी दृष्टान्त-प्रवणता के दर्शन किए जा सकते हैं। ऐसे कई उदाहरण मिल जायेंगे जो पाठकों को अपनी भाव-भंगिमा से आप्लावित करने की सामर्थ्य लिए हैं।

श्री रतचन्द भारिल्ल का जीवन अध्यात्म-आविष्ट है। कदाचित् यही कारण है कि उनकी कहानियाँ भी मानवीय संवेदना के साथ जीवन के अनेक उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठापना करती हैं। फिर दार्शनिकता, आध्यात्मिकता, मनोवैज्ञानिकता, विवेक आदि स्वतः उनके अविच्छिन्न अंग बन जाते हैं। कहानियों में जैन सिद्धान्तों का प्रभावी चित्रण मिलता है, इसमें दो राय नहीं हो सकती। कहानियों की परिधि जैन सिद्धान्तों पर केन्द्रित होने के बावजूद उनका प्रभाव सीमाओं का अतिक्रमण करके चलता है। इसतरह पण्डित भारिल्ल जी ने हिन्दी साहित्य को भी समृद्ध ही किया है।

पण्डित भारिल्ल की कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं, जो उनकी सृजनात्मक सामर्थ्य का प्रमाण हैं।

मैंने अपने शोध-प्रबन्ध को सात अध्यायों में विभक्त किया है, उन्हीं के आधार पर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल की सृजनात्मक भावभूमि का आकलन करने का प्रयास किया गया है। पहला अध्याय जहाँ आचार्य परम्परा, पण्डित परम्परा के साथ पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के व्यक्तित्व, विचार एवं उससे सम्बद्ध पक्षों को अपने में समाहित करके चलता है, वहीं दूसरा अध्याय उनके सृजन को अध्ययन का आधार बना कर चलता है तथा तीसरा अध्याय पण्डित भारिल्ल के साहित्य का तात्त्विक चिन्तन से सम्बद्ध है। चौथा अध्याय उनके साहित्य में प्रतिपादित विविध दार्शनिक विचार को समर्पित है। जिसमें उससे जुड़ी उनकी प्रवृत्तिगत विशेषताओं का विश्लेषण किया गया है।

शोधप्रबन्ध का पाँचवाँ अध्याय पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य में सामाजिक चित्रण एवं अगले अध्याय में राजनैतिक चिन्तन को विश्लेषित किया है। सप्तम् अध्याय भी उनके साहित्य में भौगोलिक एवं आर्थिक चिन्तन के विवेचन से संयुक्त है। मेरा प्रयास पण्डित भारिल्ल की साहित्यिक सर्जनात्मकता को उसकी सर्वांगीणता के साथ प्रस्तुत करने का रहा है।

यह शोधकार्य शोध निर्देशक डॉ. एच.सी. जैन पूर्व विभागाध्यक्ष प्राकृत विभाग मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर के निर्देशन में किया गया है। विषय चयन से लेकर शोध सम्बन्धित विशेष दिशा निर्देश के लिए मैं उनका आभारी हूँ। बड़े दादा पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल के साथ-साथ मेरे पिता श्री लक्ष्मीचंदजी भोरावत, माता श्रीमती पुष्पादेवी, भाई श्री मनोहर भोरावत, भाभी भारती जैन, बहन आशा तथा भ्राता समान अंकुर जैन का भी आभारी हूँ, जिनका सहयोग शोधकार्य के दौरान मुझे प्राप्त हुआ।

मैं अपनी पत्नी डॉ. सीमा जैन व पुत्री प्रांजल एवं परि जैन के सहयोग के लिए धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने सदैव मेरे साथ रहकर मेरे शोधकार्य की कठिनाइयों को सरल से सरलतम किया है।

निवेदन

जिनेन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना

जिनेन्द्र शास्त्री के ज्ञान से ज्ञात होता है कि उसने मेरे सम्पूर्ण साहित्य को स्वान्तःसुखाय छात्र जीवन में ही अवश्य पढ़ लिया होगा। उसके विचारों से पता चलता है कि उसने मेरे साहित्य को न केवल पढ़ा है; बल्कि उसका चिन्तन-मनन भी किया है।

जब वह श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धांत महाविद्यालय, जयपुर में प्रवेश पाने के लिए आया था, तब वह बहुत नटखट था। फिर भी मैंने उसे यह सोचकर भर्ती कर लिया था कि जो कर्म में शूरवीर होता है, उसे सही राह मिल जाय तो वह धर्म में भी शूरवीर हो सकता है। कहावत है 'ये कम्मे सूराः ते धम्मे सूराः'।

उसने यहाँ रहकर प्रारंभ में नेतागिरी तो बहुत की, किन्तु पढाई में अग्रसर रहने से उसकी छोटी-मोटी भूलें माफ होती रहीं और वह अन्ततोगत्वा शास्त्री हो ही गया।

पता नहीं, जिनेन्द्र शास्त्री को मेरे साहित्य पढ़ने का शौक कब/कैसे लग गया। उसने मेरे लिखे सम्पूर्ण साहित्य को बहुत बारीकी से पढ़ा। उसने लगभग सभी (छहों) उपन्यासों एवं कहानी संग्रह तो पढ़े ही, निबन्ध साहित्य को भी पढ़ा। न केवल पढ़ा, बल्कि वह उस साहित्य से प्रभावित भी हुआ।

यद्यपि मैं वस्तुतः साहित्यकार नहीं हूँ, किन्तु मेरी भावना है कि मैं जैनधर्म के मूल सिद्धांतों को सरलतम भाषा में लिखकर तथा बोलचाल की भाषा में बोलकर अपने भावों को व्यक्त करूँ। एतदर्थ जैसी टूटी-फूटी भाषा में मुझसे बन पड़ा, लिखने का प्रयत्न किया। प्रसन्नता का विषय है कि चि. जिनेन्द्र शास्त्री ने मेरे विषय पर ही शोध कार्य करने का निश्चय किया और मुझे अपने विचारों से अवगत कराते हुए कहा कि - 'कौन कहता है कि आपकी लिखी भाषा साहित्यिक नहीं है? आपके उपन्यास एवं कहानियाँ तो साहित्यिक हैं ही, निबन्ध भी साहित्यिक हैं। मैं अपनी 'पी.एच.डी.' के

द्वारा आपके सम्पूर्ण साहित्य को आधुनिक साहित्यिक भाषा की कसौटी पर कसकर उसे साहित्यिक सिद्ध करूँगा।'

पहले तो मैंने उससे कहा कि - 'मेरे लेखन में ऐसा है ही क्या? जिस पर तू शोधकार्य करेगा, बाद में मैंने सोचा - करता है तो करने दो, इससे पाठकों तक पहुँचने का अपना उद्देश्य भी पूरा हो जायेगा और विषय चर्चित होगा तो उसके द्वारा जो तथ्य, जो बात अपन जनता तक पहुँचाना चाहते हैं, पहुँच जायेगी।'

उसने यह तर्क दिया कि जब डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य पर पी.एच.डी. हो सकती है, तो आपके साहित्य पर क्यों नहीं? दोनों की भाषा-शैली लगभग समान है, विषय-वस्तु अपने उद्देश्य को पूरा करती ही है। आलोचकों, समीक्षकों ने भी समय-समय पर आपके साहित्य की प्रशंसा भी खूब की है, फिर आप पर पीएच.डी. क्यों नहीं हो सकती? उसका तर्क मेरी समझ में आ गया और मैं चुप हो गया। जिनेन्द्र दृढ़ संकल्पी तो है ही वह भारतीय जनता पार्टी का सक्रिय नेता भी है। पूर्व गृहमंत्री और शिक्षामंत्री तथा वर्तमान में ग्रामीण विकास मंत्री श्री गुलाबचंदजी कटारिया का दायां हाथ भी है। इसकारण राजनीति में उसकी गहरी पहुँच है। उसने शीघ्र ही अपने साधनों से रजिस्ट्रेशन करा लिया और कम समय में ही अधिक मेहनत करके कार्य पूर्ण भी कर लिया। एतदर्थ उसे जितना भी धन्यवाद दिया जाय, कम ही है।

जिनेन्द्र ने मेरी पुस्तक 'संस्कार' पढ़कर अपने जीवन को भी संस्कारित किया। 'विदाई की बेला' पढ़कर इसके प्रमुख पात्र विवेक के अन्तिम समय के पारिवारिकजनों के प्रति हुए अपने सद्व्यवहार से प्रभावित होकर उसने अपना जीवन कैसे जीना? यह भी सीखा तथा -

'सुखी जीवन' में आई क्रमबद्धपर्याय के प्रकरण से वह बहुत प्रभावित हुआ उसने इस पुस्तक के आधार से हर स्थिति में सुखी कैसे रहा जा सकता है? यह सीखा। इसी तरह 'नींव का पत्थर' और खासकर 'इन भावों का फल क्या होगा' से उसने सदाचार से रहने की कला तथा ध्यान का स्वरूप भी सीखा।

इसतरह में कह सकता हूँ कि जिनेन्द्र शास्त्री ने न केवल डिग्री प्राप्त करने के लिये यह शोध किया, बल्कि अपने जीवन को सही तरीके से जीने की कला भी उसने प्रस्तुत साहित्य पढ़कर सीखी तथा तदनुसार अपने जीवन को वैसा ही ढालने का संकल्प किया है। इसका मुझे हर्ष है।

उपन्यासों एवं कहानियों के सिवाय जिनेन्द्र शास्त्री ने निबन्ध साहित्य में गमोकार-महामंत्र, सामान्य श्रावकाचार, पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, जिनपूजन-रहस्य तथा ऐसे क्या पाप किये के 21 निबन्धों से भी बहुत कुछ सीखा है।

सभी पुस्तकें जीवन में आमूलचूल परिवर्तन लाने की क्षमता रखती हैं।

इनके अलावा गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी के प्रवचनों के आधार पर गुजराती भाषा से हिन्दी भाषा में अनुवादित सत्साहित्य के माध्यम से लगभग 6,000 (छः हजार) पृष्ठों का अनुवाद करके मैंने जो कार्य किया था, जिनेन्द्र शास्त्री ने उस साहित्य का अध्ययन भी किया तथा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उस ज्ञान का भी परोक्ष रूप से उपयोग किया। इस तरह यह कृति न केवल डिग्री-प्राप्ति हेतु किया हुआ शोध-कार्य है, बल्कि इसके माध्यम से जिनेन्द्र शास्त्री ने अपने जीवन को शोधा, संभाला भी है।

अतः यदि पाठक भी इस ग्रन्थ के सूक्ष्म अध्ययन से थोड़ा भी लाभ ले सकें, अपने जीवन को तदनु रूप ढाल सकें, तो मेरा श्रम सार्थक हो जायेगा।

— पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल

अनुक्रमणिका

| | |
|--|----|
| प्रथम अध्याय: आचार्य परम्परा, पण्डित परम्परा पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का व्यक्तित्व विकास एवं उनके विचार | 13 |
| आचार्य कुन्दकुन्द | 13 |
| आचार्य अमृतचन्द्र | 20 |
| आचार्य जयसेन | 28 |
| पण्डित परम्परा | |
| आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी | 29 |
| पण्डित जयचंदजी छाबडा | 34 |
| कविवर पण्डित बनारसीदासजी | 37 |
| पण्डित दौलतरामजी पल्लीवाल | 42 |
| गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी | 43 |
| पण्डित रतनचन्द भारिल्ल | 45 |
| वंश परम्परा | 46 |
| पण्डितजी की वेशभूषा और खानपान | 49 |
| पण्डित भारिल्ल का जैनसमाज में स्थान | 50 |
| पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल के विद्यागुरु | 51 |
| पण्डित श्री रतनचंद का बहुआयामी व्यक्तित्व | 53 |
| राजनैतिक एवं सामाजिक कर्तृत्व | 55 |
| सामाजिक दायित्व | 56 |
| रतनचंद भारिल्ल के भूतकाल संबंधी धार्मिक विचार | 57 |
| पण्डित रतनचंद भारिल्ल कालीन धार्मिक स्थिति | 59 |
| परिस्थितियों के अनुरूप समाधान खोजने की क्षमता | 61 |
| पण्डित रतनचंद भारिल्ल के व्यक्तित्व का विकास | 62 |
| पण्डित रतनचंद भारिल्ल के साहित्य का कैदियों पर प्रभाव | 65 |
| पण्डित रतनचंदजी के पूर्व की राजनैतिक परिस्थितियां | 67 |
| समकालिक राजनैतिक परिस्थितियां एवं उनका प्रभाव | 69 |
| साहित्यिक परिस्थितियों का प्रभाव | 70 |

| | |
|--|-----|
| लोकप्रिय लेखक एवं प्रवचनकार | 71 |
| पारिवारिक एवं विभिन्न व्यक्तियों के विचार | 72 |
| साहित्य सृजन में पण्डित रतनचंद भारिल्ल का प्रदेय | 75 |
| कृतित्व की विभागानुसार सूची | 77 |
| साहित्येतर कर्तृत्व | 79 |
| पण्डित रतनचंद भारिल्ल का साहित्यिक कृतित्व | 81 |
| द्वितीय अध्याय : पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का सृजन : | |
| एक परिदृश्य | 82 |
| उपन्यासकार पण्डित श्री रतनचंद भारिल्ल | 85 |
| कहानी : समालोचनात्मक अध्ययन | 114 |
| गद्य साहित्य में निबन्ध | 133 |
| जैनशास्त्र के सरलीकरण का अभिनव प्रयोग | 144 |
| नवीन शोध और संभावनाओं के सन्दर्भ में; | |
| विश्व शांति में जैनधर्म का योगदान | 152 |
| पद्य साहित्य | 157 |
| तृतीय अध्याय : पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य का | |
| तात्विक चिन्तन | 172 |
| चतुर्थ अध्याय: पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य में | |
| प्रतिपादित धार्मिक और दार्शनिक विचार | |
| दर्शन का स्वरूप एवं विश्लेषण - | 178 |
| निबन्ध साहित्य में भावहिंसा एवं द्रव्यहिंसा | 179 |
| निबन्ध साहित्य में परिग्रह/अपरिग्रह | 180 |
| पाषाण से परमात्मा बनने की प्रक्रिया | 183 |
| कर्मों का स्वरूप एवं संख्या | 189 |
| निबन्ध साहित्य के झरोखे से | 191 |
| जन्म मरण एवं समाधिमरण | 194 |
| पंचम अध्याय: पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य में | |
| चक्रवर्ती भरत का सामाजिक चित्रण | 197 |
| भारिल्लजी के साहित्य में तात्विक चिन्तन | 199 |
| महाराज नाभिराय कूलकर (मनु) भी थे | 202 |

| | |
|---|-----|
| जैनैत्तर दर्शन में ब्रह्म और माया | 203 |
| चार्वाक मत का स्वरूप | 204 |
| मीमांसक मत | 205 |
| वैशेषिक मत और उनके दर्शन का स्वरूप | 205 |
| बौद्धमत या बौद्धदर्शन | 207 |
| जैनमत या जैनदर्शन | 208 |
| मनुष्य जन्म एक अभिषाप | 212 |
| षष्ठम् अध्याय : पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य में राजनैतिक चिन्तन | 215 |
| सप्तम अध्याय : पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य में भौगोलिक एवं आर्थिक चिन्तन | 219 |
| पण्डित भारिल्ल के साहित्य में धनार्जन व्यवस्था | 221 |
| शोधकर्ता का साक्षात्कार : | |
| पण्डित रतनचन्द भारिल्ल से | 224 |
| उपसंहार | 235 |

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

| | |
|--|----------|
| 1. श्रीमती सीमा जैन ध.प. जिनेन्द्र शास्त्री उदयपुर | 5000.00 |
| 2. स्व. शान्तिलालजी बडजात्या रतलाम की स्मृति में | 2100.00 |
| 3. श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प. श्री अजीत कुमार जी जैन छिन्दवाडा | 2001.00 |
| 4. श्री बाबूलाल चक्रेश कुमार जी जैन अशोकनगर | 1000.00 |
| 5. श्री लक्ष्मीचंदजी चौधरी अशोकनगर | 1000.00 |
| 6. पं. संजयजी शास्त्री, बडामलहरा जयपुर | 500.00 |
| 7. श्री सौरभ दरूगकर, परली | 101.00 |
| कुल राशि :- | 11702.00 |

प्रथम अध्याय

आचार्य परम्परा, पण्डित परम्परा

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का व्यक्तित्व-विकास
एवं उनके विचार

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल स्वयं अपनी भतीजी श्रीमती डॉ. शुद्धात्मप्रभा की पुस्तक 'आचार्य कुन्दकुन्द और टीकाकार' पुस्तक की प्रस्तावना में लिखते हैं कि "यद्यपि दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द 'कनिष्ठाधिष्ठित' होने से सर्वोपरि हैं क्योंकि संस्कृत में एक उक्ति प्रसिद्ध है जो इस प्रकार है—

'पुरा कवीनां गणना प्रसंगे, कनिष्ठकाधिष्ठित कालिदास।

अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावत् अनामिका सार्थवती बभूव॥

ज्ञातव्य है कि पुराने जमाने में कवियों की गणना के प्रसंग में महाकवि कालिदास कनिष्ठाधिष्ठित हो गये; क्योंकि कोई भी गणना हो, वह कनिष्ठा अंगुली से ही प्रारम्भ होती है। जब कालिदास उस पर अधिष्ठित हो गये तथा आज तक उन जैसा कोई महाकवि हुआ ही नहीं तो कवि कल्पना करता है कि उस कनिष्ठा के पास वाली अंगुली का अनामिका नाम मानो इसी कारण सार्थक हो गया।" उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द भी कनिष्ठाधिष्ठित हैं; क्योंकि केवली भगवान महावीर और गौतमस्वामी के बाद आचार्यों में कुन्दकुन्द ही कनिष्ठाधिष्ठित हैं। तथापि उनके जीवन एवं साहित्य पर जैसा अनुसंधानात्मक कार्य होना चाहिए, वैसा कार्य अद्यावधि तक देखने में नहीं आया।

यदि थोड़ा बहुत कहीं हुआ भी है तो वह उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व की तुलना में कुछ भी नहीं है।

दिगम्बर जैनाचार्यों, मुनिराजों एवं विद्वद्वर्ग द्वारा लगातार दो हजार वर्ष से कुन्दकुन्दाचार्य का निरन्तर स्मरण किया जाता रहा है, प्रत्येक दिगम्बर जिनबिम्ब पर उनका नाम अंकित है, प्रत्येक स्वाध्यायी

स्वाध्याय आरम्भ करने के पूर्व भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ उनका प्रतिदिन स्मरण करता है एवं अनेकानेक शिलालेखों एवं प्रशस्तियों में उनकी कीर्तिपताका अंकित है² परन्तु ऐसे महान व्यक्तित्वों का प्रचार-प्रसार कितना भी क्यों न हो, कम ही है।

स्वभाव से अन्तरोन्मुखी स्वाध्यायप्रेमी समाज उनके ग्रन्थों का स्वाध्याय करता रहा, उनका रसास्वादन भी करता रहा; बीच में कुछ काल तक आचार्य कुन्दकुन्द के ये ग्रन्थ अचर्चित भी रहे; किन्तु विगत बीसवीं शताब्दी से आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का अत्यधिक प्रचार व प्रसार हुआ है।³ उन्होंने न केवल उनके ग्रन्थों के अनेक संस्करण अत्यल्प मूल्य में जन-जन तक पहुंचाये, उन पर लगातार 45 वर्ष तक प्रतिदिन दो बार प्रवचन कर उन्हें मुमुक्षु जैन समाज में लोकप्रिय भी बनाया; किन्तु उनका प्रचार-प्रसार मात्र दि. जैन समाज तक ही सीमित रहा।

इस कृति के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्द पर आवश्यक अनुसंधानपरक कार्य की पूर्ति हो गई है, यह तो नहीं कह सकते। पर, यह अवश्य कहा जा सकता है कि एक शुभारंभ तो हो ही गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध⁴ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन पर समस्त जानकारी को अतिसंक्षेप में आवश्यक तर्क-वितर्क के साथ अधिकतम जानकारी तो प्राप्त हो ही जाती है। साथ ही उनके व्यक्तित्व से अभिभूत भी हो जाता है, उसे उनके ग्रन्थों के अध्ययन करने की शुरुआत होती है।

1. मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमोगणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्थो जैन धर्मोऽस्तु मंगलं ॥
2. शिलालेख - चन्द्रगिरि ऋषभवेल्ला कर्नाटक पहाड़ पर गुफा में उत्कीर्ण लेख 40, आचार्य कुन्दकुन्द और उसके टीकाकार पृष्ठ 17 (डॉ. शुद्धात्मप्रभा का शोध प्रबन्ध)
3. जैनपथ-विशेषांक कुन्दकुन्द से कानजी स्वामी तक।
4. शुद्धात्मप्रभा के शोध प्रबन्ध से।
5. आचार्य कुन्दकुन्द और उसके टीकाकार
6. आचार्य कुन्दकुन्द और उसके टीकाकार

दूसरे, आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की समस्त विषयवस्तु को इस शोध प्रबन्ध^६ में सीधी-सादी, सरल, सुबोध भाषा में संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर दिया गया है कि पाठक को मूलग्रन्थ पढ़ने का आनन्द तो आ जाता है, और वह तत्संबंधी श्रम से बच जाता है। इसप्रकार उसे मूल ग्रन्थों के अवलोकन बिना ही कुन्दकुन्द के प्रतिपाद्य का परिचय प्राप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप उसे मूल ग्रन्थों के अवलोकन की भी प्रेरणा प्राप्त होती है।

तीसरे, इस शोध प्रबन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में व्यक्त दार्शनिक विचारों को सरल-सुबोध भाषा में प्रस्तुत कर दिया गया है, जिससे पाठक कुन्दकुन्द के प्रतिपाद्य के साथ-साथ उनके दार्शनिक विचारों से भी परिचित हो जाता है।

इसप्रकार यह शोध प्रबन्ध ग्रन्थ कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व एवं विचारों का एक ऐसा दर्पण हो गया है, जिसमें अनभिज्ञ से अनभिज्ञ पाठक को आ. कुन्दकुन्द का एक प्रतिबिम्ब प्रतिभासित हो जाता है। यही कारण है कि यह शोध प्रबन्ध मुमुक्षु समाज एवं कुन्दकुन्द से अपरिचित विद्वदसमाज - दोनों के लिए ही अत्यन्त उपयोगी हो गया है।

दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में अपना गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

मंगलाचरणस्वरूप जो छन्द बोला जाता है, उसमें भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है, शेष सभी को 'आदि' शब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।

मंगलं कुन्दकुन्दाद्योः जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान लगभग प्रत्येक जिनबिम्ब (जिनप्रतिमा या जिनमूर्ति) पर 'कुन्द-कुन्दाम्नाय' उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आचार्य कुन्दकुन्द को जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में

आपका स्थान बेजोड़ है। आपकी महिमा बताने वाले शिलालेख भी उपलब्ध हैं।

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्यदेव के नाम एवं काम तथा महिमा से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है।

लोकेशणा से दूर रहनेवाले जैनाचार्यों की विशेषता यही है कि महान से महान ऐतिहासिक कार्य करने के बाद भी वे अपने व्यक्तिगत जीवन के संबंध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते। आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपुर, कर्नाटक (आंध्रप्रदेश) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था? यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दीसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था।

विक्रम संवत् 49 में आप नन्दीसंघ के पद पर आसीन हुए और मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये। कहा जाता है कि वे 33 वर्ष की उम्र में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि वे विक्रम संवत् 49 में 33 वर्ष के थे। अतः उनका जन्म विक्रम संवत् 16 में हुआ होगा।

कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुति मधुरता (कर्ण प्रियता) की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया। यद्यपि 'आचार्य' पद है, तथापि वह आपके नाम के साथ इस प्रकार घुल-मिल गया कि वह नाम का ही अंग हो गया।

उनका पद्मनन्दी प्रथम नाम था और दूसरा नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।

'आचार्य' शब्द नाम का ही अंश बन गया था, जो कि 'आचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः' पद से अत्यन्त स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि यह नाम उनके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद ही

प्रचलित हुआ, परन्तु यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि मूल नाम भी विस्मृत—सा हो गया।

उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं। इस संदर्भ में विजयनगर के एक शिलालेख में एक श्लोक पाया जाता है, जो इस प्रकार है—

“आचार्यकुन्दकुन्दार्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।

एलाचार्यो गृद्धपृच्छश्च इति तन्नाम पञ्चधा।।”

यदि सीमंहरस्वामी (महाविदेह में विद्यमान तीर्थकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दीनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते?”

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परम्परा के शिरमौर हैं एवं उनके ग्रन्थ दिगम्बर साहित्य की अनुपम निधि हैं; तथापि दिगम्बर जैन समाज उनसे अपरिचित—सा ही था। दिगम्बर समाज की स्थिति का सही रूप जानने के लिए पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है—

“आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्रसभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द का नाम तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म शास्त्र की चर्चा करने वाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दिगम्बर जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करने वाले विरले हैं।

हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी ने समयसार का डंका बजाया, उनके कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ, अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे।

यदि श्री कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का इतना प्रचार न होता।”

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इस प्रकार हैं—

1. समयसार (समयपाहुड)
2. प्रवचनसार (पवयणसार)
3. नियमसार (णियमसार)
4. पंचास्तिकायसंग्रह (पंचत्थिकायसंगहो)
5. अष्टपाहुड (अट्टपाहुड)

इनके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारसअणुवेक्खा) एवं दशभक्ति भी आपकी कृतियां मानी जाती हैं। इसी प्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरलकाव्य को भी आपकी कृति मानते हैं। उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं।

अष्टपाहुड में निम्नलिखित आठ पाहुड संगृहीत हैं—

- | | |
|------------------|---------------|
| 1. दंसणपाहुड | 2. सुत्तपाहुड |
| 3. चारित्तपाहुड | 4. बोधपाहुड |
| 5. भावपाहुड | 6. मोक्खपाहुड |
| 7. लिंगपाहुड एवं | 8. सीलपाहुड |

समयसार जिनअध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था के विशद् विवेचन करने वाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं।

ये तीनों ग्रन्थराज परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं। उक्त तीनों को नाटकत्रयी, प्राभृतत्रयी और कुन्दकुन्दत्रयी भी कहा जाता है।

उक्त तीनों ग्रन्थराजों पर कुन्दकुन्द के लगभग एक हजार वर्ष बाद एवं आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संस्कृत भाषा में गम्भीर टीकायें लिखी हैं। समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई टीकाओं के सार्थक नाम क्रमशः 'आत्मख्याति', 'तत्त्वप्रदीपिका' एवं 'समयव्याख्या' हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग तीन सौ वर्ष बाद हुए आचार्य जयसेन द्वारा इन तीनों ग्रन्थों पर लिखी गई 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सरल-सुबोध संस्कृत टीकायें भी उपलब्ध हैं।

नियमसार पर परमवैरागी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विक्रम की बारहवीं सदी में संस्कृत भाषा में 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो वैराग्यभाव एवं शान्तरस से सराबोर है, यह भिन्न प्रकार की अद्भुत टीका है।

अष्टपाहुड के आरंभिक छह पाहुडों पर विक्रम की सोलहवीं सदी में लिखी गई भट्टारक श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका प्राप्त होती है, जो षट्पाहुड नाम से प्रकाशित हुई। षट्पाहुड कोई स्वतंत्र कृति नहीं है, अपितु अष्टपाहुड के आरंभिक छह पाहुड ही षट्पाहुड नाम से जाने जाते हैं।

यहाँ इन सब पर विस्तृत चर्चा करना न तो संभव है और न आवश्यक ही। यहाँ तो अब प्रस्तुत कृति समयसार के प्रतिपाद्य पर दृष्टिपात करना प्रसंग प्राप्त है।

वस्तुतः बात यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द साहित्य में विशुद्ध—अध्यात्म के साथ—साथ अनावश्यक क्रियाकाण्ड एवं शिथिलाचार के विरुद्ध भी सशक्त प्रतिपादन है। अष्टपाहुड में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता, संयम नहीं होता, मुनिदशा नहीं हो सकती है।

जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है फिर व्रत होते हैं, वह सम्यक्त्व स्वपर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है, इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो। इस प्रकार मुख्यरूप से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है, गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने उसे पहले व्रतादिक का उपदेश देते हैं, इसलिए ऊँची दशावालों को अध्यात्म—अभ्यास करने योग्य है — ऐसा जानकर निचली दशावालों को वहाँ से परान्मुख होना योग्य नहीं है।

प्रश्न : यदि कोई कहे कि यह काल निकृष्ट है, इसलिए इस निकृष्ट काल में उत्कृष्ट अध्यात्म—उपदेश की मुख्यता नहीं करना।

उत्तर : यह काल एवं क्षेत्र साक्षात् मोक्ष न होने की अपेक्षा निकृष्ट है, आत्मानुभवनादिक द्वारा सम्यक्त्वादिक होना इस काल में मना नहीं है, इसलिए आत्मानुभवनादिक के अर्थ द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना अकार्यकारी नहीं है।'

1. आचार्य कुन्दकुन्द और उसके टीकाकार — शोध प्रबन्ध की प्रस्तावना, लेखक — पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

अध्यात्मवेत्ता आचार्य अमृतचन्द्र

दसवीं शताब्दी में हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के समर्थ टीकाकार आत्मरस में निमग्न, परम आध्यात्मिक संत आचार्य अमृतचन्द्र न केवल सफल टीकाकार ही हैं, अपितु रससिद्ध कवि एवं मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता भी हैं। आप केवल अध्यात्मवेत्ता ही नहीं थे, न्याय-व्याकरण में भी आपकी सूक्ष्म पकड़ थी। बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य अमृतचन्द्र का संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार था। अध्यात्मरस से ओत-प्रोत आपकी रचनायें संस्कृत भाषा की बेजोड़ रचनायें हैं।

गद्य और पद्य दोनों पर ही आपका समान अधिकार था; अतः गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार की रचनाओं में आपकी भाषा भावानुवर्तिनी व सहज बोधगम्य है। आपके द्वारा रचित टीकायें पद्यमिश्रित गद्य में और मौलिक ग्रन्थ पद्य में हैं। टीका ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द के दार्शनिक और सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'समयसार', 'प्रवचनसार' और 'पंचास्तिकायसंग्रह' पर लिखी गई अत्यन्त गम्भीर मार्मिक टीकायें हैं, जिनके नाम क्रमशः 'आत्मख्याति', 'तत्त्वप्रदीपिका' और 'समयव्याख्या' है।

आचार्य अमृतचन्द्र मुख्यरूप से विशुद्ध आध्यात्मिक विचारक हैं। विचार उनकी अनुभूति का अंग है, लेकिन यह अनुभूतिमूलकता उन्हें तर्क से विरत नहीं करती। वे जिस बात पर विचार करते हैं, तर्क उनकी पहली सीढ़ी होती है। उनके चिन्तन में तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। उन्होंने अनुभूति और तर्क के साथ-साथ आगम प्रमाण को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है।

आपको अपनी शैली में तर्क-वितर्क को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

आपकी गद्य-शैली सरल तो नहीं कही जा सकती, पर वह जटिल भी नहीं है, क्योंकि उसमें विषयानुगामी तरल प्रवाह है, भाषा भी भावानुगामिनी है। यद्यपि सहज सरलता उसमें नहीं पाई जाती, तथापि उसमें दुरुहता भी नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र उदाहरण को सिद्धान्त पर सर्वांग भी घटित करते हैं। आपकी टीकाओं में मूल ग्रन्थकार के उदाहरणों को भी

सर्वांग घटित कर अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है, जिससे विषयवस्तु हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के तौर पर 'समयसार' गाथा 356 की टीका द्रष्टव्य है।

इन बड़े-बड़े उदाहरणों के अतिरिक्त 'जले जंबालवत्', 'समुद्रावर्त इव', 'जतुपादपवत्', 'घटमृत्तिकयोरिव', 'औष्ण्यपरिणतायः पिण्डवत्', 'जपातपिच्छरागपरिणमतस्फटिकवत्', 'खरशृंगकल्पत्वाद्', 'शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव', 'काकाक्षितारकवत्' इत्यादि छोटे-छोटे उदाहरणों द्वारा भी विषय को स्पष्ट किया गया है।

प्रथम तीन ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध 'नाटकत्रय' अथवा 'प्राभूतत्रय' के नाम से अभिहित किए जाने वाले समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय - इन तीन शास्त्रों के भाव को स्पष्ट करने वाली अत्यन्त गंभीर मार्मिक संस्कृत टीकायें हैं। शेष चार ग्रन्थ जो उनकी स्वतंत्र मौलिक रचनायें हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

1. **तत्त्वार्थसार** - दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समानरूप से माने जाने वाले तत्त्वार्थसूत्र को पल्लिवित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ की पद्यमय रचना की है। अनेक स्थलों पर तत्त्वार्थसूत्र की लीक से हटकर नवीन विषय वस्तु भी इसमें प्रस्तुत की गई है। इसमें आचार्य अकलंकदेव के तत्त्वार्थ राजवार्तिक का सर्वाधिक आश्रय लिया है।

2. **परमाध्यात्मक तरंगिणी** - इसमें अधिकारों का वर्गीकरण भी स्वतंत्र रूप से (मौलिक) किया गया है। विशेष जानकारी के लिए मूल ग्रन्थ देखना चाहिए।

समयसार की आत्मख्याति टीका के बीच-बीच में जो 278 कलश आये हैं, यद्यपि वे आत्मख्याति के ही अंश हैं, तथापि उनका स्वतंत्र संकलन भी हुआ है, जो परमअध्यात्मतरंगिणी के नाम से जाना जाता है। ये कलश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन पर शुभचन्द्र की संस्कृत टीका एवं पाण्डे राजमल की हिन्दी टीका प्रसिद्ध है।

3. **लघुतत्त्व स्फोट** - यह कृति अभी भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण वर्ष में प्रकाश में आई है। इसके वर्ण्य विषय, भाषा शैली आदि

से यह सिद्ध हो चुका है कि यह आचार्य अमृतचन्द्र की ही कृति है। इसमें 25-25 छन्दों के 25 अध्याय हैं। कुल 625 छन्द हैं। इसमें आचार्य समन्तभद्र की शैली में 24 तीर्थकरों की स्तुतियों के माध्यम से जिनागम के मूल दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है।

4. 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' - पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ आचार्य अमृतचन्द्र की सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली मौलिक रचना है। आज तक के सम्पूर्ण श्रावकाचारों में इसका स्थान सर्वोपरि है। इसकी विषयवस्तु और प्रतिपादन शैली तो अनूठी है ही, भाषा एवं काव्य सौष्टव भी साहित्य की कसौटी पर खरा उतरता है। अन्य किसी भी श्रावकाचार में निश्चय-व्यवहार निमित्त-उपादान एवं हिंसा-अहिंसा का ऐसा विवेचन और अध्यात्म का ऐसा पुट देखने में नहीं आया। प्रायः सभी विषयों के प्रतिपादन में ग्रन्थकार ने अपने आध्यात्मिक चिन्तन एवं भाषा-शैली की स्पष्ट छाप छोड़ी है।

वे अपने प्रतिपाद्य विषय को सर्वत्र ही निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक स्पष्ट करते हैं। उक्त संदर्भ में प्रभावना अंग सम्बन्धी निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य हैं-

“आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव।

दान तपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।”²

रत्नत्रय के तेज से निरन्तर अपनी आत्मा को प्रभावित करना, साधना करना निश्चय प्रभावना है तथा दान, तप, जिनपूजा और विशेष विद्या द्वारा जिनधर्म की प्रभावना का कार्य करना व्यवहार प्रभावना है।

एक प्रकार से यह पूरा ग्रन्थ ही निश्चय-व्यवहार के समन्वय की सुगन्ध से महक उठा है।

नयविभाग के सम्यग्ज्ञान बिना आज निश्चय-व्यवहार के नाम पर समाज में जो विग्रह चल रहा है, उसके शमन का एकमात्र उपाय इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक पठन-पाठन ही है।

1. पुरुषार्थसिद्धयुपाय की प्रस्तावना के आधार पर लेखक - पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

2. पुरुषार्थसिद्धयुपाय छन्द 8

जिनागम के अध्ययन के लिए वे निश्चय-व्यवहार का ज्ञान आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि निश्चय-व्यवहार के ज्ञान बिना शिष्य जिनागम का रहस्य नहीं समझ सकता, अतः जिनागम के अभ्यास का अविकल फल भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। वे कहते हैं—

“व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।

प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।”

जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय को वस्तु स्वरूप से यथार्थ जानकर मध्यस्थ होता है, वह शिष्य ही उपदेश का अविकल फल प्राप्त करता है।”

मोक्षमार्ग में निश्चय-व्यवहारका स्थान निर्धारित करने वाली गाथा प्रस्तुत करके टीकाकार पण्डित टोडरमल कहते हैं कि “हमें पहले दोनों नयों को भले प्रकार जानना चाहिए, पश्चात् उन्हें यथायोग्य अंगीकार करना चाहिए। किसी एक नय का पक्षपाती होकर हठाग्रही नहीं होना चाहिए। गाथा इस प्रकार है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा व्यवहार णिच्छएमुअह।

एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेणपुण तच्चं।”

यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करना चाहता है तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रय स्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव होगा और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्धतत्त्व का अनुभव नहीं होगा।”

यह गाथा आचार्य अमृतचन्द्र को भी अत्यन्त प्रिय थी। उन्होंने आत्मख्याति में भी इसे उद्धृत किया है। वे अपनी टीकाओं में सहजरूप से कोई उद्धरण देते ही नहीं हैं, तथापि इस गाथा को उन्होंने उद्धृत किया है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग का आरम्भ करते हुए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं—

1. पुरुषार्थसिद्धयुपाय छन्द 6

2. अनगार धर्मातुतः पण्डित आशाधरजी प्रथम अध्याय, पृष्ठ 18

“तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रणीयखिलम यत्नेन ।

तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ।”

इन तीनों में सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नों से सम्यग्दर्शन की उपासना करना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं।”

उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषायें निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक दी हैं, जो इस प्रकार है—

“जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।

श्रद्धानं विपरीताभिवेश विविक्तमात्म रूपं तत् ॥ 8 ॥

कर्तव्योऽध्यवसायः सद्नेकांतात्मकेषु तत्त्वेषु ।

संशय विपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ 9 ॥

चारित्रं भवति यतः समस्त सावद्य योग परिहरणात् ।

सकल कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ 10 ॥

जीवादि पदार्थों का विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और वह निश्चय से आत्मरूप ही है।

जीवादि पदार्थों का संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित यथार्थ निर्णय सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान निश्चय से आत्मरूप ही है।

समस्त सावद्ययोग और सम्पूर्ण कषायों से रहित, पर पदार्थों से विरक्तरूप आत्मा की निर्मलता सम्यक्चारित्र है और वह सम्यक्चारित्र निश्चय से आत्म स्वरूप ही है।”²

यहां ध्यान देने की विशेष बात यह है कि प्रत्येक परिभाषा के अन्त में ‘आत्मरूपं तत्’ पद पड़ा हुआ है, जिसका तात्पर्य है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र तीनों ही निश्चय से आत्मरूप ही हैं, आत्मा ही हैं।

चारित्र के प्रकरण में आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा का जैसा मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। हिंसा-अहिंसा की परिभाषा दर्शाते हुए वे लिखते हैं—

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय छन्द, 31

2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय छन्द 8, 9, 10

“अप्रादुर्भाव खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।

तेषामेवोत्पत्तिहिंसेति जिनागमस्य संक्षेप ॥ 43 ॥

यत्खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणम् ।

व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ 44 ॥”

निश्चय से आत्मा में रागादि भावों का प्रकट न होना ही अहिंसा है, और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही निश्चय से हिंसा है ।

कषाय रूप परिणमित हुए मन, वचन, काय के योग से स्व-पर के द्रव्य व भावरूप दोनों प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण करना-घात करना ही हिंसा है ।”

जिनागम में हिंसा-अहिंसा की व्याख्या अत्यन्तसूक्ष्म रूप से की गई है । सर्वत्र भावों की मुख्यता से ही हिंसा के विविध रूपों का वर्णन है ।

पांचों पापों को एवं कषायादि को हिंसा में ही सम्मिलित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं-

“आत्मपरिणामहिंसन हेतुत्वात् सर्वमेहिंसैतत् ।

अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यवोधाय ॥”²

आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घातक होने से ये सब पांचों पाप एवं कषायादि सब हिंसा ही है, असत्य वचनादि के भेद तो केवल शिष्य को समझाने के लिए कहे हैं ।”

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति और उनके निमित्त से स्व-पर प्राण व्यपरोपण को हिंसा कहा है । झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के माध्यम से भी आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और स्व-पर प्राणों को पीड़ा भी पहुंचती है- इस कारण झूठ, चोरी आदि पाप भी प्रकारान्तर से हिंसा ही हैं ।

“सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसा ।

हिंसायतन निवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥”³

यद्यपि परवस्तु के कारण सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती तथापि

1. पुरुषार्थसिद्धयुपाय - 43-44

2. पुरुषार्थसिद्धयुपाय - 42

3. पुरुषार्थसिद्धयुपाय - 41

परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के आयतन बाह्य परिग्रहादि से एवं अन्तरंग कषायादि का त्यागकर उनसे निवृत्ति लेना उचित है।”

जैन दर्शन का मूल 'वस्तुस्वातंत्र्य' जैसा पुरुषार्थसिद्धयुपाय में प्रतिपादित हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कार्य स्वयं में ही होता है, स्वयं से ही होता है, पर पदार्थ तो उसमें निमित्त मात्र ही होते हैं।

निमित्त उपादान की अपनी-अपनी मर्यादायें हैं। जीव के परिणाम रूप भावकर्म एवं पुद्गल के परिणामरूप द्रव्यकर्म में परस्पर क्या सम्बन्ध है— इस बात को वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

“जीवकृतं परिणामं निमित्त मात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन।।

परिणममानस्य चित्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।

भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि।।”

जीव के रागादि परिणामों का मात्र निमित्त पाकर कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल स्वयं ही कर्म रूप में परिणमित होते हैं इसी प्रकार जीव भी स्वयं ही रागादि भाव रूप परिणमता है, पुद्गल कर्मों का उदय तो उसमें निमित्त मात्र ही होते हैं।

उक्त दोनों ही छन्दों में यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वयं से ही होता है, पर पदार्थ तो उसमें मात्र निमित्त ही होते हैं।

“रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है और रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है।”

इस तथ्य को भी इसमें बड़ी खूबी से उजागर किया गया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप निश्चय रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है, शुभ भाव रूप व्यवहार रत्नत्रय अर्थात् रागभाव मुक्ति का कारण नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य निश्चय से मुक्ति के ही कारण हैं, बन्ध के कारण रत्न मात्र नहीं हैं।

वे साफ-साफ लिखते हैं—

“येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥212॥

येनांशेन ज्ञान तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥213॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥214॥’

इस आत्मा के जिस अंश में सम्यग्दर्शन है, उस अंश (पर्याय) से बन्ध नहीं हैं तथा जिस अंश में राग है, उस अंश से बन्ध होता है।

जिस अंश में इसके ज्ञान है, उस अंश से बन्ध नहीं है और जिस अंश में राग है, उस अंश से बन्ध होता है।

जीब के तीन प्रकार हैं— (1) बहिरात्मा (2) अन्तरात्मा (3) परमात्मा। बहिरात्मा के तो रत्नत्रय है ही नहीं, अतः उनके तो सर्वथा बन्ध है और परमात्मा का रत्नत्रय परिपूर्ण हो चुका है। अतः उनके बन्ध का सर्वथा अभाव है। बस एक अन्तरात्मा ही है, जिनके अंशरूप में रत्नत्रय प्रकट होता है। वे अन्तरात्मा चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। उनके जिस अंश में रत्नत्रय प्रकट हुआ है, उस अंश में राग का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता और जिस अंश में राग रहता है, उस अंश से कर्मबन्ध होता है।

यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र एक विशुद्ध आध्यात्मिक सन्त पुरुष हैं और वे अपनी लेखनी और काव्य प्रतिभा का पूरा उपयोग स्व-पर कल्याण में ही करना चाहते हैं, अतः उनके द्वारा साहित्यिक सौन्दर्य या काव्यकला के प्रदर्शन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, तथापि उनमें सहज काव्य-प्रतिभा होने से उनके साहित्य में स्वभावतः साहित्यिक सौन्दर्य भी आ गया है।

संस्कृत भाषा पर तो आचार्य अमृतचन्द्र का असाधारण अधिकार है ही, प्राकृत भाषा के भी वे मर्मज्ञ विद्वान् थे। अन्यथा कुन्दकुन्द को कैसे पढ़/समझ सकते थे। उनके समयसार, प्रवचनसार जैसे गूढ़ गम्भीर शास्त्रों का दोहन करना एवं उसे सुसंस्कृत सशक्त भाषा में ऐसी अभिव्यक्ति देना अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य का ही काम था।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध और प्रांजल है। जहां एक ओर इस ग्रन्थ में उनकी संस्कृत भाषा इतनी सरल व सहज बोधगम्य है, वहीं दूसरी ओर उनके टीका ग्रन्थों में लम्बी-लम्बी समासयुक्त पदावली भी देखी जा सकती है। अमृतचन्द्र का गद्य-पद्य दोनों शैलियों पर समान अधिकार है। परम अध्यात्म तरंगिणी आदि पद्यकाव्यों में विविध प्रकार के छन्दों की इन्द्रधनुषी छटा भी दर्शनीय है।

ऐसी विलक्षण प्रतिभा के धनी आचार्य अमृतचन्द्र की मौलिक एवं अनेक अभूतपूर्व विशेषताओं से समृद्ध अद्भुत कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय विद्वद्वर्ग एवं आत्मार्थी मुमुक्षु समाज दोनों के द्वारा ही गहराई से अध्ययन करने योग्य है, नित्य स्वाध्याय करने योग्य है।

सभी आत्मार्थीजन जिनप्रवचन के रहस्य का उद्घाटन करने वाले इस जिन प्रवचन रहस्य कोष को जानकर अपने आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ को जागृत कर उसके द्वारा परमसिद्धि को प्राप्त करें।

आचार्य श्री जयसेन

आचार्य अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य की सशक्त टीकाओं के होते हुए भी आचार्य श्री कुन्दकुन्द के उन्हीं ग्रन्थों पर सरल-सुबोध टीकायें लिखकर आचार्य श्री जयसेन ने अद्भुत साहस का परिचय दिया।

संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार होने पर भी आपकी टीका की भाषा संधि-समासादि से रहित अत्यन्त सरल है। अपनी टीकाओं की भाषा के संबंध में उनका निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है-

जयसेनीय टीकायें नयोल्लेखपूर्वक, गुणस्थान परिपाटी से की गई षट्खण्डान्वयी टीकायें हैं।

इस प्रकार आचार्य जयसेन टीका के प्रारम्भ, मध्य, अन्त में सर्वत्र ही टीका की विषयवस्तु का ज्ञान कराते हैं तथा ग्रन्थ का मूल प्रयोजन भी स्पष्ट करते जाते हैं, जिससे पाठक को विषय सुपाठ्य और सुग्राह्य हो जाता है एवं प्रयोजन विस्मृत नहीं हो पाता।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य जयसेनीय टीकायें सरल व सहज बोधगम्य हैं। वे नयोल्लेखपूर्वक गुणस्थान परिपाटी की षट्खण्डान्वयी टीकायें हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अमृतचन्द्र के प्रमेय को बहुत कुछ अपने में समेटे हुए भी आचार्य श्री जयसेन की टीकायें पूर्णतः मौलिक हैं।

तेरहवीं शताब्दी के आचार्य श्री जयसेन की टीकायें दसवीं शताब्दी के आचार्यश्री अमृतचन्द्रीय टीकाओं की पूरक हैं।

आचार्य जयसेन ने अपनी टीका के प्रारम्भ में कहा है कि 'पंचास्तिकाय संग्रह' संक्षेप रुचिशिष्यों के प्रतिबोधन के लिए, 'प्रवचनसार' को मध्यमरुचि शिष्यों के प्रतिबोधन के लिए और 'समयसार' को विस्ताररुचि शिष्यों के प्रतिबोधन के लिए लिखा है; पर अमृतचन्द्र ने इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं किया है।

आचार्य श्री जयसेन आचार्य श्री अमृतचन्द्र की टीकाओं से पूर्णतः उपकृत जान पड़ते हैं।

पण्डित परम्परा

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल जी

विक्रम की सतरहवीं सदी का अंत एवं अठारहवीं सदी के आरंभिक दिनों में राजस्थान का गुलाबी नगर जयपुर जैनियों की काशी बन रहा था। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की विद्वत्ता और प्रतिभा से प्रभावित होकर भारत का तत्त्व-जिज्ञासु समाज जयपुर की ओर चातक दृष्टि से निहारता था। भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में संचालित तत्त्वगोष्ठियों और आध्यात्मिक मण्डलियों में चर्चित शंकाएँ समाधानार्थ जयपुर भेजी जाती थीं और जयपुर से पण्डितजी द्वारा समाधान पाकर तत्त्व-जिज्ञासु अपने को कृतार्थ मानता था।

यद्यपि सरस्वती माँ के इस वरद पुत्र का जीवन आध्यात्मिक साधनाओं से ओतप्रोत हैं, तथापि साहित्यिक व सामाजिक क्षेत्र में भी उनका प्रदेय कम नहीं है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी उन दार्शनिक साहित्यकारों एवं क्रान्तिकारियों में से हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में आई हुई विकृतियों का खण्डन ही नहीं किया, वरन् उन्हें जड़ से उखाड़ फेंका। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित साहित्यिक ब्रज भाषा में

1. सौ. शुद्धात्मप्रभा के शोधप्रबन्ध की प्रस्तावना : पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

दार्शनिक विषयों का विवेचक ऐसा गद्य प्रस्तुत किया जो उनके पूर्व विरल था।

पण्डितजी का समय विक्रम की सत्तरहवीं सदी का अन्त एवं अठारहवीं शती का आरम्भ काल है। वह संक्रान्तिकालीन युग था। उस समय राजनीति में अस्थिरता, सम्प्रदायों में तनाव, साहित्य में शृंगार, धर्म के क्षेत्र में रूढ़िवाद, आर्थिक जीवन में विषमता एवं सामाजिक जीवन में आडम्बर— ये सब अपनी चरम सीमा पर थे। उन सबसे पण्डितजी को संघर्ष करना था, जो उन्होंने प्राणों की बाजी लगाकर किया।

पण्डित टोडरमलजी गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडम्बर विरोधी, दृढ़श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी न झुकने वाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्त-ग्रन्थों के सफल टीकाकार एवं परोपकारी महामानव थे।

वे विनम्र होते हुए भी दृढ़निश्चयी विद्वान थे। वे प्रामाणिक महापुरुष थे। तत्कालीन आध्यात्मिक समाज में तत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्रकरणों में उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किये जाते थे। वे लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। धार्मिक उत्सवों में जनता की अधिक से अधिक उपस्थिति के लिए उनके नाम का प्रयोग आकर्षण के रूप में किया जाता था। गृहस्थ होने पर भी उनकी वृत्ति साधुता की प्रतीक थी।

पण्डितजी के पिता का नाम जोगीदासजी एवं माता का नाम रम्भादेवी था। वे जाति से खण्डेलवाल दिगम्बर जैन थे और गोत्र था गोदीका, जिसे भौंसा व बड़जात्या भी कहते हैं। उनके वंशज ढोलाका भी कहलाते थे। वे विवाहित थे; पर उनकी पत्नी व ससुराल पक्ष वालों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनके दो पुत्र थे— हरिचंद और गुमानीराम।

गुमानीराम भी उनके समान उच्चकोटि के विद्वान् और प्रभावक

आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। उनके पास बड़े-बड़े विद्वान भी तत्त्व का रहस्य समझने आते थे।

यद्यपि पण्डित टोडरमलजी का अधिकांश जीवन जयपुर में ही बीता, तथापि उन्हें अपनी आजीविका के लिए कुछ समय सिंघाणा रहना पड़ा। वहां वे दिल्ली के एक साहूकार के यहां कार्य करते थे।

“बहुरि बारा हजार त्रिलोकसारजी की टीका वा बारा हजार मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ अनेक शास्त्रों के अनुसारि अर आत्मानुशासनजी की टीका, तीना ग्रंथां की टीका करि। टोडरमल्लजी ने सैंतालीस बरस की आयु पूर्ण करि परलोक विषे गमन किया।”

पण्डितजी का कार्यक्षेत्र आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का प्रचार व प्रसार करना था, जिसे वे लेखन-प्रवचन आदि के माध्यम से करते थे। उनका सम्पर्क तत्कालीन आध्यात्मिक समाज से प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से दूर-दूर तक था। साधर्मी भाई ब्र. रायमल उनसे मिलने शाहपुरा से सिंघाणा गए थे तथा उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर तीन वर्षों तक वहीं तत्त्वाभ्यास करते रहे।

पण्डित टोडरमलजी का व्याख्यान सुनने, उनकी शास्त्रसभा में हजार-बारह सौ स्त्री-पुरुष प्रतिदिन आते थे। बालक-बालिकाओं एवं प्रौढ़-पुरुषों एवं महिला वर्ग के धार्मिक अध्ययन-अध्यापन की पूरी-पूरी व्यवस्था थी।

उनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष था। उनका प्रचार कार्य ठोस था। यद्यपि उस समय यातायात की सुविधा नहीं थी, तथापि उन्होंने दक्षिण भारत में समुद्र के किनारे तक धवलादि सिद्धान्तशास्त्रों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया था।

जब वे 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की प्रशस्ति' में अपना परिचय देने लगे तो सहज ही लिखा गया—

मैं हूँ जीव-द्रव्य नित्य चेतना स्वरूप मेर्यो,
लग्यो है अनादि तैं कलंक कर्म मल कौ।
ताहि को निमित्त पाय रागादिक भाव भये,
भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल कौ।।

रागादिक भावनि को पायकें निमित्त पुनि,
 होत कर्मबन्ध ऐसौ है बनाव जैसे कल कौ।
 ऐसैं ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जाग,
 बनैं तो बनैं यहाँ उपाव निज थल कौ।।36।।

प्रतिभा के धनी होने पर भी उन्हें अभिमान छू भी नहीं गया था। अपनी रचनाओं के कर्तृत्व के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

बचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इन्द्रिय हिया।
 ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनमें नाहिं हमारो मेल।।
 ज्ञान राग तो मेरौ मिल्यौ, लिखनौ करनौ तनु को मिल्यौ।
 कागज मसि अक्षर आकार, लिखिया अर्थ प्रकाशन हार।।

संस्कृत ग्रन्थों की भाषा टीकाओं में आत्मानुशासन टीका और पुरुषार्थसिद्धयुपाय टीका है। प्राकृत ग्रन्थों में गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार— क्षपणासार और त्रिलोकसार हैं, जिनकी टीकाएं उन्होंने लिखी हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार और क्षपणासार की भाषा टीकाएँ पण्डित टोडरमलजी ने अलग-अलग बनायी थीं, किन्तु उक्त चारों टीकाओं को परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित एवं परस्पर एक का अध्ययन दूसरे के अध्ययन में सहायक जानकर, उन्होंने उक्त चारों टीकाओं को मिलाकर एक कर दिया तथा उसका नाम 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' रख दिया। सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका में उक्त चारों ग्रंथों की टीका मिलाकर एक कर देने के सम्बन्ध में सयुक्ति समर्थ कारण प्रस्तुत किए हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक पण्डित टोडरमलजी का एक महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रंथ है। इस ग्रंथ का आधार कोई एक ग्रंथ न होकर सम्पूर्ण जैन साहित्य है। यह सम्पूर्ण जैन सिद्धान्त को अपने में समेट लेने का एक सार्थक प्रयत्न था, पर खेद है कि यह ग्रंथराज पूर्ण न हो सका।

इस ग्रंथ का निर्माण ग्रंथकार की अन्तःप्रेरणा का परिणाम है। यह ग्रंथ अल्पबुद्धि वाले जिज्ञासु जीवों के प्रति धर्मानुराग ही अन्तःप्रेरणा का प्रेरक रहा है। ग्रन्थ-निर्माण के मूल में कोई लौकिक आकांक्षा

नहीं थी। धन, यश और सम्मान की चाह तथा नया पंथ चलाने का मोह भी इसका प्रेरक नहीं था; किन्तु जिनको न्याय, व्याकरण, नय और प्रमाण का ज्ञान नहीं है और जो महान् शास्त्रों के अर्थ समझने में सक्षम नहीं हैं, उनके लिए जनभाषा में सुबोध ग्रन्थ बनाने के पवित्र उद्देश्य से ही इस ग्रंथ का निर्माण हुआ है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में नौ अधिकार हैं। प्रारम्भ में आठ अधिकार तो पूर्ण हो गए, किन्तु नौवां अधिकार अपूर्ण है। इस अधिकार में जिस प्रकार विषय उठाया गया है, उसके अनुरूप इसमें कुछ भी नहीं कहा जा सका है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग और पच्चीस दोषों के नाम मात्र गिनाए जा सके हैं। उनका सांगोपांग विवेचन नहीं हो पाया है। जहाँ विषय छूटा है वहाँ विवेच्य प्रकरण भी अधूरा रह गया है, यहाँ तक कि अन्तिम पृष्ठ का अन्तिम शब्द 'बहुरि' भी बहु... लिखा जाकर अधूरा छूट गया है।

टीकाकार होते हुए भी पण्डितजी ने गद्यशैली का निर्माण स्वयं ने किया। उनकी शैली दृष्टान्तयुक्त प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली को अपनाते हैं जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारों से बोझिल। उनकी इस शैली का सर्वोत्तम निर्वाह मोक्षमार्गप्रकाशक में है। तत्कालीन स्थिति में गद्य को आध्यात्मिक चिन्तन का माध्यम बनाना बहुत ही सूझ-बूझ और श्रम का कार्य था। उनकी शैली में उनके चिन्तन का चरित्र और तर्क का स्वभाव स्पष्ट झलकता है। एक आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी गद्यशैली में व्यक्तित्व का प्रक्षेप उनकी मौलिक विशेषता है।

उनकी शैली की एक विशेषता यह है कि प्रश्न भी उनके होते हैं और उत्तर भी उनके। पूर्व प्रश्न के समाधान में अगला प्रश्न उभर कर आ जाता है। इस प्रकार विषय का विवेचन अन्तिम बिन्दु तक पहुंचने पर ही वह प्रश्न समाप्त हो जाता है। उनकी गद्य शैली की एक मौलिकता यह है कि वे प्रत्यक्ष उपदेश न देकर अपने पाठक के सामने वस्तुस्थिति का विश्लेषण इस तरह करते हैं कि उसे अभीष्ट निष्कर्ष पर पहुंचना ही पड़ता है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा

यद्यपि जयचन्दजी छाबड़ा के जीवन के बारे में बहुत कुछ ज्ञात नहीं है, तथापि सर्वार्थसिद्धि की वचनिका के अन्त में प्रशस्तिस्वरूप उन्होंने जो अपना परिचय दिया है, उससे उनके जीवन की कुछ अस्पष्ट—सी रेखाएं व्यक्त होती हैं—

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का जन्म जयपुर से लगभग 45 कि. मी. की दूरी पर स्थित फागई (फागी) गांव में हुआ था। उनके पिता का नाम मोतीचन्द था। उनके गोत्र का नाम छाबड़ा था। यह गोत्र खण्डेलवाल जैन जाति के अन्तर्गत आता है। वे श्रावकधर्म के अनुयायी थे। इसी कारण उन्हें 'सरावगी' भी कहा जाता है। आपके पिता पटवारी थे, अतः आपका परिवार पटवारी के नाम से भी प्रसिद्ध था।

ग्यारह वर्ष की आयु तक आपको धर्म के प्रति अधिक रुचि नहीं थी, किन्तु उसके बाद आपको जिनमार्ग के प्रति जो प्रीति जागृत हुई, वह आपके अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती गई। जिनमार्ग के प्रति रुचि की जागृति को उन्होंने इष्टदेव की आराधना का शुभयोग माना, गांव के जिन-मन्दिर में, जहाँ पर तेरापंथी शैली चलती थी, वहाँ जाना आरम्भ किया।

तेरापंथी शैली एवं उससे पण्डित जयचन्दजी का लगाव — इस तेरापंथी शैली में देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनेवाली तत्त्वचर्चा निरन्तर चलती थी। पण्डितजी को लगा कि यदि अपने जीवन का भला करना है तो वहाँ जाकर जैन तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। इस विचार से प्रेरित होकर उन्होंने तेरापंथी शैली में जाना आरम्भ किया।

यहाँ ध्यातव्य है कि ग्यारह वर्ष की अल्प आयु में पण्डितजी के मन में ऐसा उत्तम विचार आना, उनके भव्यपने की परिपक्वता को दर्शाता है।

तेरापंथी शैली में पहुँचकर, उन्हें धीरे-धीरे उस तत्त्वचर्चा में विशेष रस आने लगा। उनका अधिकांश समय वहीं बीतने लगा। साथ ही देव, गुरु एवं धर्म के प्रति श्रद्धा दृढ़ होने लगी; विपरीत मान्यताएं टूटने लगीं। चर्चा-वार्ता का यह क्रम उत्तरोत्तर वृद्धि पाने लगा। इस दौरान किसी

कारणवश फागई से जयपुर आना हुआ, यह निमित्त संभवतः वि. संवत् 1921 में जयपुर में होनेवाला 'इन्द्रध्वज विधान' रहा होगा क्योंकि रुचि उत्पन्न होने के बाद इतने बड़े आयोजन में न आना असम्भव—सा प्रतीत होता है। यहाँ तत्त्वचर्चा करनेवालों की उन्होंने बहुत बड़ी शैली देखी, जो उन्हें अच्छी लगी। यहाँ ज्ञानी गुणी साधर्मियों की संख्या भी फागई के मुकाबले अधिक थी।

जयपुर की यह शैली पण्डित टोडरमलजी के सान्निध्य में चलती थी। इस शैली में आध्यात्मिक ग्रन्थों का न केवल पठन—पाठन होता था, बल्कि भारतवर्ष विशेषतः उत्तर भारत में होने वाली तत्त्वगोष्ठियों में उत्पन्न गंभीर शंकाओं को भी यहाँ भेजकर समाधान प्राप्त किया जाता था। इसका प्रमाण मुलतान (पाकिस्तान) से आई हुई जिज्ञासाओं के समाधानार्थ पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी है— यह चिट्ठी इतनी विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण थी कि उसने भी एक लघुकाय ग्रन्थ का रूप धारण कर लिया।'

साधर्मियों की इस शैली में अनेक पण्डितजन, विशाल संख्या में शब्द अर्थात् भाषा एवं व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र और धर्मशास्त्र निरन्तर पढ़ते थे।

इन विद्वानों में पहले पण्डित बंशीधरजी बहुत प्रभावशाली और विचारवान पुरुष थे। दूसरे पण्डित टोडरमलजी बहुत तीक्ष्ण बुद्धि और विशेष क्षयोपशम के धारक थे। तीसरे पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल बसवा निवासी थे। चौथे ब्रह्मचारी रायमल्लजी। ये व्रती श्रावक थे। पांचवें महाराजजी ओसवाल उदासीन श्रावक और शीलव्रती थे।

जन्म और मरण काल — पण्डित जयचन्दजी छाबडा के जन्म के सम्बन्ध में अन्तःसाक्ष्य के अभाव में स्पष्टतः चार मान्यताएँ मिलती हैं। एक के अनुसार उनकी जन्म तिथि वि. सं. 1795, दूसरी के अनुसार वि. सं. 1805, तीसरी के अनुसार वि. सं. 1815 एवं चौथी मान्यता के अनुसार वि. सं. 1820 ज्ञात होती है।

इन सबमें उनकी जन्मतिथि वि. सं. 1805 ही उचित ठहरती है, क्योंकि तब उनकी उम्र, रचनाएँ लिखना आरम्भ करने के समय 56

वर्ष सिद्ध होती है और इस वय में सम्पूर्ण ज्ञानार्जन के पश्चात् रचनाएँ लिखना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

जो न्याय, व्याकरण और अलंकार साहित्य को भली-भाँति जानकर, सत्यस्वरूप को कहते हैं; जिन्होंने न्याय, अध्यात्म के साथ-साथ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि विषयों के ग्रन्थों पर अल्पमति जीवों को समझाने के लिए भाषा टीका के रूप में आनन्दमय वचनिकाएँ लिखी हैं।

“लिखी यहै जयचन्द नै, सोधी सुत नन्दलाल।

बुध लखि भूल जु शुद्ध करो, बाँचो, सिखैवो बाल।।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का कर्तृत्व — पण्डित जयचन्दजी, स्वयं एक आध्यात्मिक जिज्ञासु साधक थे; वे जितने बड़े सिद्धान्तों के मर्मज्ञ थे, उतने ही भद्र और निरहंकारी थे। यद्यपि उन्हें ज्ञान की गहराई प्राप्त थी, तथापि उसे प्रदर्शित करने के बजाय वे उसे छिपाते थे। यद्यपि उन्होंने प्राकृत-संस्कृत भाषाओं का विशेष ज्ञान प्राप्त किया था, तथापि वे सम्पूर्णता का दावा नहीं करते थे। वे जितने अच्छे गद्यकार थे, उतने ही अच्छे पद्यकार भी, पर उनमें निरभिमानता कूट-कूट कर भरी थी।

उनके जन्म एवं रचना की प्रवृत्ति के बीच में 56 वर्ष का दीर्घ अन्तराल है। ग्यारह वर्ष की अवस्था में जिनशासन के प्रति रुचि जागृत होने के बाद उन्होंने तेरापंथी शैली के उत्कृष्ट विद्वानों की संगति में जैनदर्शन और अन्यदर्शनों के सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन-मनन किया। जब उन्होंने पूरीतरह उस अध्ययन को पचा लिया, तब जनसामान्य को देने के लिए जनभाषा में वचनिका रूप रचना करना आरम्भ किया।

श्रेष्ठ पंथ के रूप में विख्यात वे इस तेरापंथी शैली में बड़े गुणवान व्यक्ति थे। उनका मानना था कि मैंने भी इन्हीं गुणीजनों की संगति में अध्यात्म को शोध कर, कुछ थोड़ा-सा बोध पाया है; उनमें धर्म के प्रति बहुमान बहुत अधिक था; अतः मन में यह विचार आया कि जो ज्ञान मैंने प्राप्त किया है, वह दूसरों को भी कराया जाए। इस बोध के जागृत होने पर मन इस वचनिका की रचना करने के लिए

उनका मन उमड़ पड़ा, सभी साधर्मियों को भी यह विचार उत्तम लगा; अतः उनसे भी इस कार्य को करने की प्रेरणा उन्हें मिली; तभी इस वचनिका के होने की विधि बनी।

उनकी रचनाओं में विषय की गहरी पकड़ दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि उनकी रचनाओं को मौलिक और व्याख्यापरक दो भागों में बाँटा जा सकता है, किन्तु व्याख्यापरक टीकाओं में भी पग-पग पर जो मौलिकता दृष्टिगोचर होती है, वह ऐसा वर्गीकरण करने से रोकती है।

अब तक प्रकाशित हुए शोध कार्यों में पन्द्रह रचनाओं की सूची प्राप्त होती है।

कविवर पण्डित बनारसीदासजी

महाकवि पण्डित बनारसीदास ने अपने जीवन में जितने उतार-चढ़ाव देखे उतने शायद ही किसी महापुरुष के जीवन में आये हों। पुण्य और पाप का ऐसा सहज संयोग अन्यत्र विरल है। जहाँ एक ओर उनके पास उधार खाई चाट के पैसे चुकाने के लिए नहीं रहे, वहाँ दूसरी ओर वे कई बार लखपति भी बने। जहां एक ओर वे शृंगार में सराबोर एवं आशिकी में रस-मग्न दिखाई देते हैं, वहीं दूसरी ओर वे पावन अध्यात्म गंगा में स्नान करते दृष्टिगत होते हैं। एक ओर स्वयं रूढ़ियों में जकड़े मंत्र-तंत्र के घटाटोप में आकण्ठ डूबे दिखते हैं तो दूसरी ओर उन्हीं का जोरदार खण्डन करते दिखाई देते हैं।

उन्होंने अपने जीवन में तीन बार गृहस्थी बसाई, पर तीनों बार उजड़ गई। ऐसी बात नहीं थी कि वे सन्तान का मुँह देखने को तरसे हों, पर उन्हें सन्तान सुख न मिल सका। तीन-तीन शादियाँ, नौ-नौ संतानों का सौभाग्य किस-किस को मिलता है? पर दुर्भाग्य की कल्पना भी तो कीजिए कि उनकी आँखों के सामने ही सब चल बसे और वे कुछ न कर सके। उस समय उन पर कैसी गुजरी होगी, यह कोई भुक्त-भोगी ही जान सकता है। कविवर ने स्वयं अपनी

अन्तर्वेदना निम्न शब्दों में की है —

तीनि विवाहीं भारजा, सुता दोइ सुत सात ॥ 642 ॥

X

X

X

नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोई ।

ज्यौं तरबर पतझार हवै, रहैं तूठसे होई ॥ 643 ॥

कविवर अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र थे। उनके माता-पिता ने उन्हें बहुत प्रतीक्षा और प्रयत्नों के पश्चात् प्राप्त किया था। विक्रम संवत् 1637 में उनके पिता खरगसेन पुत्रलाभ की अभिलाषा से रोहतकपुर की सती की यात्रा करने गये थे और मार्ग में चोरों द्वारा उनका सब कुछ लूट लिया गया था। बनारसीदासजी स्वयं भी अपने प्रारम्भिक जीवन में अनेक बार अंधविश्वासों के शिकार हुए थे। 18 वर्ष की उम्र में वे एक साधु के चक्कर में आ गये थे। प्रतिदिन एक दीनार पाने के लोभ में उसी संन्यासी के बताए मंत्र को वे एक वर्ष तक जपते रहे, किन्तु उनके हाथ कुछ भी न लगा। इसकी चर्चा उन्होंने छन्द 209 से 217 तक पद्य में भी लिखी है।¹

कविवर बनारसीदास का जन्म विक्रम संवत् 1643 की माघ शुक्ला एकादशी, रविवार के दिन जौनपुर में हुआ था। जन्म के समय उनका नाम विक्रमजीत रखा गया था, किन्तु एक बनारसी पुजारी की चतुराई से वे बनारसीदास हो गये।

उन्होंने आठ वर्ष की अवस्था में पढ़ना आरंभ किया। नौ वर्ष की उम्र में सगाई तथा ग्यारह वर्ष के होते-होते शादी कर दी गई। पुण्य-पाप के विचित्र संयोग ने कवि को यहाँ भी नहीं छोड़ा। जिस दिन शादी कर घर लौटे, उसी दिन उनकी बहिन का जन्म और नानी का मरण उसी घर में एक साथ हुआ।

नानी मरन सुता जनम, पुत्रवधु आगौन ।

तीनों कारज एक दिन, भए एक ही भौन ॥ 107 ॥

यह संसार विडम्बना, देखि प्रकट दुख खेद ।

चतुर चित्त त्यागी भए, मूढ़ न जानहि भेद ॥ 108 ॥

1. समयसार : पण्डित जयचन्द जी छाबड़ा की टीका, पृ. 10

विविध विघ्नों से बीच में ही छूटी हुई पढ़ाई को उन्होंने चौदह वर्ष की उम्र में पं. देवीदत्तजी के पास आरंभ की, किन्तु शीघ्र ही वे आशिक बन गये और उनका जीवन आशिकी प्रधान हो गया।

इस बीच जब वे अपनी पत्नी को लेने ससुराल गये हुए थे, वहीं अशुभोदय से उनको भयंकर कुष्ठ रोग हो गया। मनोहर शरीर महा दुर्गंध से भर गया, अंग-प्रत्यंग में अगणित विस्फोट हो गये। सभी नाक-भों सिकोड़ने लगे, केवल पत्नी और सास ने सेवा की।

कवि ने भी कभी जवाहरात का, कभी कपड़े का, कभी घी-तेल आदि का क्रय-विक्रय किया; किन्तु कवि को व्यापार में सफलता नहीं मिली। उन्हें अनेक विपत्तियाँ उठानी पड़ीं, फिर भी उन्होंने अपना संतुलन नहीं खोया और वे संघर्षों से जूझते रहे। उनका व्यापारिक जीवन चौबीस वर्ष की उम्र में प्रारंभ हुआ, तब उन्होंने आसिखी छोड़ दी थी।

यद्यपि आसिखी में उनके साथी और भी थे, पर बदनामी बनारसीदासजी की विशेष हुई; क्योंकि वे पंडित नाम से विख्यात थे। बात उतनी नहीं थी, जितनी बदनामी कवि को उठानी पड़ी। इसकी चर्चा कवि ने इस प्रकार की है -

कहहिं लोग श्रावक अरु जती, बनारसी खोसरामती।

तीनि पुरुष की चलै न बात। यह पंडित तातैं विख्यात ॥ 608 ॥

सुनी कहै देखी कहै, कलपति कहै बनाइ।

दुराराधि ए जगत जन, इन्हसौं कछु न बसाइ ॥ 610 ॥

उसके बाद भी कवि ने अनेक कविताएं लिखीं— नाटक समयसार और अर्द्ध कथानक उसके बाद की ही रचनाएं हैं, किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से कविवर पहले की व बाद की रचनाओं को एक-सी मानते हैं -

तब फिरि और कबीसुरी, करी अध्यात्म मांहि।

यह वह कथनी एकसी, कहुं विरोध किछु नांहि ॥ 626 ॥

हृदैमांहि कछु कालिमा, हुती सरदहन बीच।

सोऊ मिटि समता भई, रही न ऊँच न नीच ॥ 637 ॥

इसके बाद कविराज का चित्त स्थिर और शान्त हो गया। वे जो

पाना चाहते थे, उन्हें वह मिल गया था। उन्होंने यह दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लिया था कि सत्यपंथ 'निर्ग्रंथ दिगम्बर' ही है। अध्यात्म चिंतन—मनन के साथ—साथ उन्होंने साहित्य निर्माण एवं शिथिलाचार के विरुद्ध शुद्ध अध्यात्म मार्ग का प्रचार व प्रसार भी तेजी से आरंभ कर दिया था। नाटक समयसार की चर्चा घर—घर में होने लगी थी। गली—गली में लोग बनारसीदासजी द्वारा रचित समयसार नाटक के छन्द गुनगुनाया करते थे।

महाकवि बनारसीदास का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता, उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। व्यापारी लोग व्यापार के लिए आगरा आते थे और वहाँ से आध्यात्मिक रुचि लेकर वापिस जाते थे। इन आध्यात्मिक लोगों की प्रवृत्ति निरन्तर अध्ययन—मनन—चिन्तन और तत्त्वचर्चा करने की रहती थी। इस संदर्भ में पंडित बखतराम साह अपने 'मिथ्यात्व खण्डन' ग्रंथ में लिखते हैं —

किते महाजन आगरे, जात करण व्यौपार।

बनि आवै अध्यातमी, लखि नूतन आचार।। 26।।

कुन्दकुन्दाचार्य देव का 'समयसार' महान क्रांतिकारी ग्रंथराज है। उसने लाखों लोगों को समय—समय पर सत्पंथ में लगाया है। महाकवि बनारसीदास के ठीक तीन सौ वर्ष बाद एक और श्वेताम्बर साधु श्री कानजीस्वामी को इसने दिगम्बर धर्म की ओर आकर्षित ही नहीं किया, वरन् उनके माध्यम से अध्यात्म के क्षेत्र में आज एक महान क्रांति उपस्थित कर दी है। आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के माध्यम से आज फिर समयसार जन—जन की वस्तु बन गया है और घर—घर में पहुंच गया।

कविवर का देहोत्सर्गकाल अविदित है, किन्तु तत्सम्बन्ध में एक किंवदंती प्रसिद्ध है कि अन्तकाल में उनका कंठ रूंध गया था, जिस कारण वे बोल नहीं सकते थे, पर वे ध्यानमग्न और चिंतनरत थे। जब वे संभावित जीवनकाल को भी पार करते जा रहे थे तो समीपस्थ लोगों में इस प्रकार की चर्चा होने लगी कि कवि के प्राण माया और कुटुम्बियों में अटके हैं। उनकी आशंका के निवारण हेतु उन्होंने अपने जीवन का अंतिम छंद इस प्रकार लिखा था —

ज्ञान कुतवका हाथ मोह अरि नाशना।

चले बनारसीदास फेरनहिं आवना।।¹

कविवर बनारसीदास की उपलब्ध पद्य रचनाएं चार हैं। बनारसी विलास, नाममाला, अर्द्ध कथानक और समयसार नाटक। इसके अतिरिक्त उनकी एक रचना नवरस नामक भी थी जिसे कवि ने गोमती में बहा दिया था। यदि वह आज उपलब्ध होती तो हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती। यह रचना भी कोई छोटी-मोटी रचना नहीं थी, एक हजार दोहा-चौपाइयों में लिखी गई थी।

1. बनारसी विलास — इस कृति में कवि की छोटी-मोटी अड़तालीस रचनाओं का संग्रह है।

2. नाममाला — यह हिन्दी का एक पद्यबद्ध कोश है।

3. अर्द्धकथानक — इसमें कवि का पचपन वर्ष का निजी जीवन प्रस्तुत किया गया है।

4. समयसार नाटक — प्रस्तुत ग्रंथ कवि की सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसने उसे आध्यात्मिक जिज्ञासुओं की दृष्टि में आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र की श्रेणी में ला खड़ा किया है।

बनारसीदास मूलतः आध्यात्मिक कवि हैं। वे भक्ति को मुक्ति का कारण नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्व आत्मानुभव का है, अनुभव को वे मुक्ति का मार्ग ही नहीं, मोक्षस्वरूप मानते हैं। वे लिखते हैं—

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रस कूप।

अनुभव मारग मोखको, अनुभव मोख सरूप।।

अनुभव से उनका तात्पर्य आत्मानुभव से है, लौकिक अनुभव से नहीं। उन्होंने अनुभव की परिभाषा इस प्रकार स्पष्ट की है—

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावैं विश्राम।

रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याको नाम।।

वस्तु से आशय निजात्मवस्तु से है और रसस्वादत का भाव आत्मानन्द के अनुभव से है।

बनारसीदास को मात्र भक्त कवि मानने वालों को उनके निम्न विचारों पर ध्यान देना चाहिए।

1. जैनपथ प्रदर्शक विशेषांक : पण्डित बनारसीदास

लीन भयौ बिबहारमैं, उकति न उपजै कोइ ।

दीन भयौ प्रभुपद जपै, मुकति कहांसौं होइ? ॥

प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ौ, करो विविध बिबहार ।

मोख सरूपी आतमा, ग्यानगम्य निरधार ॥

वे भक्ति की अपेक्षा ज्ञान को मुख्यता देते हैं। उनकी मान्यता है— 'ग्यान बिना सिव पंथ न सूझै। बाह्यक्रियाकाण्ड को वे महत्त्व नहीं देते हैं। उनका पूरा बल ज्ञान पर है।

बहुविधि क्रिया कलेससौं, सिव पद लहै न कोइ ।

ग्यान कला परकाशसौं, सहज मोख पद होइ ॥

ग्यान कला घट घट बसै, जोग जगति के पार ।

निज निज कला उदोत करि, मुकत होइ संसार ॥

ज्ञान से उनका आशय भेदज्ञान से है और आत्मा की शुद्धता के लिए वे इसे आवश्यक मानते हैं—

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर ।

धोबी अंतर आतमा, धोवै निजगुण चीर ॥9॥

भेद ग्यान संवर जिन्ह पायौ। सो चेतन सिवरूप कहायौ।

भेदग्यान जिन्हके घट नांही। ते जड़ जीव बंधै घट मांही ॥8॥

भेदज्ञान की आवश्यकता वे तब तक स्वीकार करते हैं, जब तक कि मुक्ति प्राप्त न हो जाये—

भेदग्यान तबलौं भलौं, जबलौं मुकति न होइ ।

परम जोति परगट जहाँ, तहाँ न विकलप होइ ॥7॥

यद्यपि उन्होंने भगवान की भक्ति में अनेक पद लिखे, तथापि वे भक्ति को मुक्ति का कारण नहीं मानते। भक्ति के सम्बन्ध में उनका आदर्श आचार्य अमृतचन्द्र की पंचास्तिकाय की 'समयव्याख्या' नामक टीका है।

पण्डित दौलतरामजी पल्लीवाल

अध्यात्म रस में निमग्न रहने वाले, उन्नीसवीं सदी के तत्त्वदर्शी विद्वान कविवर पण्डित दौलतरामजी पल्लीवाल जाति के नररत्न थे। आपका जन्म अलीगढ़ के पास सासनी नामक ग्राम में हुआ था। बाद

में आप कुछ दिन अलीगढ़ में रहे थे। आपके पिता का नाम टोडरमलजी था।

आत्मश्लाघा से दूर रहने वाले इस महान कवि का जीवन परिचय अभी पूर्णतः प्राप्त नहीं है, पर इतना निश्चित है कि वे एक साधारण गृहस्थ एवं सरलस्वभावी, आत्मज्ञानी पुरुष थे।

आपके द्वारा रचित छहढाला जैन समाज का बहु-प्रचलित एवं समादृत ग्रन्थ रत्न है। शायद ही कोई जैनभाई हो, जिसने छहढाला का अध्ययन न किया हो। सभी जैन परीक्षाबोर्डों के पाठ्यक्रम में भी इसे स्थान प्राप्त है।

इसकी रचना आपने संवत् 1891 में की थी। आपने इसमें गागर में सागर भरने का सफल प्रयत्न किया है। इसके अलावा आपने अनेक स्तुतियां एवं अध्यात्म रस से ओतप्रोत अनेक भजन लिखे हैं, जो आज भी सारे हिन्दुस्तान की शास्त्र सभाओं में प्रतिदिन बोले जाते हैं। आपके भजनों में मात्र भक्ति ही नहीं, गूढतत्त्व भी भरे हुए हैं।

भक्ति और अध्यात्म के साथ ही आपके काव्य में काव्योत्पादान भी अपने प्रौढतम रूप में पाये जाते हैं। भाषा सरल, सुबोध एवं प्रवाहमयी है, भर्ती के शब्दों का अभाव है।

गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

यह तो जगत-जाहिर और सर्व-स्वीकृत तथ्य है कि इस युग में गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी ने आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव की वाणी का स्वाध्याय तो सर्वाधिक किया ही, प्रचार-प्रसार भी उनके माध्यम से ही सर्वाधिक हुआ है। उनकी प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रेरणा से अत्यन्त अल्प मूल्य में लाखों की संख्या में वीतरागी सत्साहित्य का प्रकाशन हुआ है, हो रहा है और निरन्तर घर-घर में पहुँच रहा है।

आचार्यश्री कुन्दकुन्द की वाणी श्री कानजीस्वामी के रोम-रोम में समा गई थी। उन्होंने लगातार 45 वर्ष तक प्रतिदिन दिन में दो बार मुख्यरूप से कुन्दकुन्द वाणी पर ही प्रवचन किए। कुन्दकुन्द साहित्य को सर्वसाधारण की विषय-वस्तु बनाने वाले श्रीकानजीस्वामी इस

1. (पण्डित रतनचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित नाटक समयसार की प्रस्तावना से)

सदी के सर्वाधिक चर्चित व्यक्तित्व रहे हैं। उनके निमित्त से आचार्य श्री कुन्दकुन्द को जितना अधिक पढ़ा-सुना गया, उतना इसके पूर्व उन्हें शायद ही कभी पढ़ा-सुना गया हो?

आध्यात्मिक क्रान्ति के कर्ता सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी वस्तुतः युगपुरुष थे। जो व्यक्ति उस व्यक्तित्व के विचारों से, चिन्तन से और तत्त्वप्रतिपादन की शैली से सहमत थे, जिन्हें उनके विचार आगम-सम्मत और युक्तिसंगत लगे थे, जो उनके अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व से परिचित और प्रभावित थे, वे तो उन पर पूरी तरह समर्पित थे ही; पर जो अपने पूर्वाग्रहों और पंथव्यामोह के कारण उनके विचारों से पूरी तरह सहमत नहीं हो पाये थे, वे भी उनकी सादगी, सरलता, सज्जनता, उदारता और धार्मिक भावनाओं के प्रशंसक थे।¹

दिगम्बर जैन समाज के प्रबुद्ध वर्ग की दृष्टि में वे क्या थे, यदि यह जानने की जिज्ञासा हो तो 'युगपुरुष श्रीकानजीस्वामी' पुस्तिका में पण्डित रतनचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित 'जनमानस की दृष्टि में श्रीकानजीस्वामी' नामक लेख का अवलोकन अवश्य करें

उस पुस्तिका में चारित्र्य चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज से लेकर क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णी तथा अनेक साधु-संतों के तथा समाज के प्रायः सभी लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों और श्रीमन्तों के तथा समाज के गणमान्य नेताओं द्वारा गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के विषय में समय-समय पर प्रकट किए गए मार्मिक उद्गार दिये गये हैं; जिनमें श्रीकानजीस्वामी के द्वारा हुए तत्त्वप्रचार, दिगम्बर जैनधर्म की महती धर्मप्रभावना, धर्मायतनों के नवनिर्माण, दिगम्बर जैन साहित्य का विपुल मात्रा में सस्ता प्रकाशन आदि महान कार्यों की प्रशंसा तो की ही है, उनके तत्त्वनिरूपण को भी आगम सम्मत माना है।

जो पुरुष युग को किसी न किसी रूप में प्रभावित करता है, उसे ही तो युगपुरुष कहते हैं। श्रीकानजी स्वामी के व्यक्तित्व में यह विशेषता थी।

उनके व्यक्तित्व व कर्तृत्व की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि

1: जैनपथप्रदर्शक विशेषांक सन् कुन्दकुन्द साहित्य के प्रचार में कानजीस्वामी का योगदान।

संख्यात्मक और गुणात्मक दोनों दृष्टियों से उन्होंने अध्यात्म के क्षेत्र में सर्वाधिक व्यक्तियों को लाभान्वित किया है।

पांच लाख मुमुक्षुओं में आधे से अधिक ऐसे हैं, जिन्होंने उनसे प्रत्यक्ष लाभ लिया है। अतः उनका श्रीकानजीस्वामी के प्रति कृतज्ञ होना स्वाभाविक ही है।

यद्यपि उन्होंने अपने जीवन में अन्त तक सबसे अधिक आचार्य कुन्दकुन्द को ही पढ़ा है और उन्हीं पर सर्वाधिक प्रवचन किए हैं; पर आवश्यकतानुसार अन्य अनुयोगों का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया है। उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार ग्रन्थ पर 19 बार आद्योपांत शास्त्र सभा में प्रवचन किये। समयसार ग्रन्थ पर उन्नीसवीं बार गुजराती में हुए प्रवचनों का हिन्दी में अनुवाद पण्डित रतनचन्द भारिल्ल ने लगभग 6 हजार पृष्ठों में किया, जो 11 भागों में प्रकाशित हुए हैं।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

जिनके साहित्य पर यह शोधकार्य किया जा रहा है, उन पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल का जन्म अगहन कृष्णा 8 वि. सं. 1989 तदनुसार 21 नवम्बर, 1932 को उत्तरप्रदेश के ललितपुर जिले के एक छोटे से गांव बरौदास्वामी में हुआ था।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का नाम जन्म कुण्डली के अनुसार महेन्द्रकुमार रखा गया था; परन्तु इस नाम का उल्लेख मात्र जन्मकुण्डली में ही मिलता है। चालू नाम प्रारम्भ से ही रतनचन्द रख दिया गया था। आज तक यही नाम लोक में प्रचलित हुआ है तथा सभी प्रमाणपत्रों में भी यही नाम अंकित है, जो आज तक यथा नाम तथा गुण की युक्ति को सार्थक कर रहा है।

बाद में शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण होने पर सभी साथी लोग इन्हें आदर से 'शास्त्रीजी' के नाम से सम्बोधन करने लगे। इस तरह सन् 1979 तक विदिशा में यही नाम प्रचलित रहा।

जून 1979 तक विदिशा में जब तक एस. एस. एल. जैन हायर सैकण्डरी स्कूल में अध्यापन किया तब तक वहां सभी लोग शास्त्रीजी नाम से ही सम्बोधित करते रहे। जुलाई 1979 में जयपुर आने के बाद

आपका नाम 'शास्त्रीजी' के बदले गोत्र के अनुसार पण्डित रतनचन्द भारिल्ल नाम से जाना जाता है।

पण्डित भारिल्लजी ने बताया कि सभी विद्यार्थी तो मुझे 'बड़ेदादा' ही कहते हैं। मेरे पूर्व महामंत्री आदरणीय स्व. नेमीचन्दजी पाटनी जो मुझसे उम्र में बड़े थे, वे भी मुझे बड़ेदादा ही कहते थे और मेरे अनुज डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल को सभी विद्यार्थी और सभी परिचित लोग छोटे दादा नाम से सम्बोधित करते हैं।

इस तरह इनके नामों में समय-समय के अनुसार किंचित् फेरबदल होता रहा है।

वंश परम्परा : पण्डित भारिल्लजी ने बताया कि हमारे पड़दादा उमराव सिंह के दो पुत्र थे। एक का नाम था जगन्नाथजी एवं दूसरे का नाम था दामोदरप्रसाद जी। जगन्नाथजी हमारे दादाजी (पिताजी के पिताजी) थे। उनके दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र श्री बसोरेलालजी एवं छोटे पुत्र (हमारे पिताजी) श्री हरदासजी भारिल्ल। दामोदारदासजी के भी दो पुत्र हुए। भूरेलालजी एवं शिवलालजी।

श्री हरदासजी भारिल्ल के बड़े भाई बसोरेलालजी को पेट में बाउठ नामक बीमारी थी, जिससे उनका पेट कुछ बड़ा हुआ था। उस समय आपरेशन करना खतरनाक माना जाता था। अतः उन्होंने आपरेशन से इंकार कर दिया तथाशादी भी नहीं की थी। वे आजीवन अविवाहित रहे और अपने छोटे भाई श्री हरदासजी भारिल्ल का जी-जान से साथ देते रहे। वे बुद्धिमान और साहसी थे। उनके रहते उनके छोटे भाई श्री हरदासजी निश्चित एवं निर्भय रहते थे। भागवती बाई श्री हरदासजी (हमारे पिताजी) की सबसे बड़ी संतान है। हम तीन भाई हैं। मैं सबसे बड़ा, मुझसे ढाई वर्ष छोटे डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल एवं उनसे 12 वर्ष छोटा डॉ. उत्तमचन्द भारिल्ल।

माता-पिता — पण्डित रतनचन्द भारिल्ल की माता का नाम तो पार्वतीबाई था, परन्तु वे अपनी बहनों में सबसे छोटी होने के कारण उन्हें नन्हींबाई कहा जाता था। पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के पिता का नाम श्री हरदासजी भारिल्ल था। इनके पिता बरौदास्वामी के ही

1. छहढाला तथा वीतराग भाग-1, श्री टोडरमल स्मारक भवन, बापू नगर, जयपुर से प्रकाशित

मूल निवासी थे। माता-पिता दोनों ही स्वभाव से सरल एवं धर्मात्मा थे। पिता की रुचि एवं भावना अपने पुत्रों को पण्डित बनाने की थी, जिसमें उन्हें सफलता भी मिली। पण्डित रतनचन्दजी की माँ लम्बे समय तक रोगग्रस्त रही। उन्हें बोन टी.बी. हो गई थी, जिस कारण उनकी हड्डियां कमजोर हो गई थीं। उपचार कराया, पर वे पूरी तरह ठीक नहीं हो पाई। लगभग 25 वर्ष तक वे रोग शैथ्या पर थीं, पर वे अति साहसी थी। अतः उन्होंने बीमारी की परवाह नहीं की।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रतिपादित 'क्रमबद्धपर्याय' के सिद्धान्त पर उनको पूर्ण आस्था थी। यद्यपि वे अधिक पढ़ी-लिखी नहीं थीं, किन्तु जबसे उन्होंने पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रतिपादित इस क्रमबद्धपर्याय को पण्डित भारिल्ल के द्वारा सुन लिया था, तब से उन्हें उस सिद्धान्त पर अटूट आस्था हो गई थी और वे मरणपर्यन्त उसी के बल पर निराकुल रहीं।

माँ की मृत्यु की विचित्र स्थिति बनी। वे अपने तृतीय पुत्र डॉ. उत्तमचन्द भारिल्ल की शादी में जयपुर से गुना जा रही थीं। रास्ते में वे आगरा में धर्मप्रेमी भाई श्री पद्मचन्दजी सर्राफ के यहां रुकीं थीं, वहीं उनका हार्ट फ़ैल हो गया और वे शादी में नहीं पहुंच पायीं। जानबूझकर श्री पद्मचन्द जी ने हमें माँ की मृत्यु के समाचार न देकर माँ के गंभीर बीमारी का समाचार दिया, ताकि फेरों में बाधा न पड़े। सीरियस बीमारी का समाचार सुनते ही पिताजी आगरा रवाना हो गये। वहाँ से श्री पद्मचन्दजी सर्राफ ने पवित्र भावना से हम लोगों को मृत्यु का समाचार न देकर यह कहा कि माँ सीरियस है, पिताजी शादी में नहीं आ पायेंगे। तुम काम चालू रखो।

हमें उनकी मृत्यु के समाचार जब मिले तब तक फेरे पड़ चुके थे। वह दिन था 18 फरवरी, 1973 ईस्वी का। इस प्रकार 1973 को माँ का साया हमारे ऊपर से उठ गया था।

माँ की मृत्यु के बाद पिताजी की मृत्यु 25 अगस्त, 1975 को विदिशा में ही हुई थी। उन्होंने जीवन तो समाधिपूर्वक जिया ही, मरण समय भी वे मात्र 18 दिन ही अस्वस्थ रहे। इस बीच वे पूर्ण सचेत रहे तथा उनका मरण भी समाधिपूर्वक ही हुआ।

बचपन : मेरे (शोधकर्ता) पूछने पर पण्डित भारिल्लजी ने बताया कि बचपन में मैं एवं मेरे अनुज हुकमचन्द लगभग एक साथ ही रहते थे। खेलना—पढ़ना एवं खाना—पीना सब एक साथ ही होता था। मैं बचपन से ही शान्त प्रकृति का रहा हूँ, झगड़े—झंझट मुझे पसन्द नहीं हैं। जबकि हुकमचन्द ने अन्याय को कभी बर्दाश्त नहीं किया। इस कारण गलत बात से उनका खून खौलता था। इस कारण उन्हें तेज तर्रार कहा जाता था।

बचपन में माता—पिता का पूरा प्यार मिला। हम छोटी उम्र से ही घर के कार्यों में सहयोग देते थे, खेलने में रुचि ज्यादा नहीं थी। पढ़ने के प्रति ललक बचपन से ही थी। 5—6 वर्ष की उम्र से ही विद्यालय जाना प्रारम्भ कर दिया था। बचपन सामान्य रूप से अच्छा बीता।

शिक्षा : पण्डित भारिल्लजी ने बताया कि हमारी प्रारम्भिक शिक्षा मुख्यतः घर पर ही हुई। गाँव में एक अध्यापक पास के घिसौली गाँव से ट्यूशन पढ़ाने आते थे। कुछ दिन हम भी उनके पास ट्यूशन से पढ़े और लगभग एक वर्ष अपने गाँव से लगभग छह किलोमीटर दूर ननौरा गाँव की प्राथमिक शाला में भी पढ़े। सन् 1946 की दीपावली के बाद से छह माह वीर विद्यालय पपौरा में अध्ययन किया। चूंकि हमारे पिताजी हमें पण्डित बनाना चाहते थे। अतः 1947 जुलाई में उन्होंने हमें श्री गोपाल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, मुरैना में भर्ती करा दिया। संस्कृत विभाग में प्रारम्भिक परीक्षा उत्तीर्ण होने का कोई नियम नहीं था, योग्यता के आधार पर भर्ती कर लिया जाता था। अतः हम अपनी योग्यता के आधार पर भर्ती हो गये।

‘हमारे पिताजी सुनाते थे कि एक बार निकटवर्ती अतिशय क्षेत्र शान्तिनाथजी में मेला के अवसर पर एक ओजस्वी वक्ता के प्रवचन सुनकर मुझे विकल्प आया कि मैं भी अपने बेटों को ऐसा ही विद्वान् बनाऊँगा।’ ऐसे संकल्प के फलस्वरूप ही उन्होंने हमें मुरैना एवं कुन्दकुन्द विद्यालय राजाखेड़ा भेजकर अपनी भावना को पूरा किया।

वहाँ रहकर हमने सन् 1953 में शास्त्री व न्यायतीर्थ की परीक्षाएँ पास कीं। इसके बाद शिक्षक के रूप में मैंने सन् 60 में अशोकनगर में रहकर प्राइवेट मैट्रिक, हायर सैकण्डरी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं एवं विदिशा

में सन् 1963 से शिक्षण कार्य करते हुए बी. ए. एवं साहित्यरत्न की परीक्षाये उत्तीर्ण कीं।

बाद में एस. एस. एल. जैन कॉलेज का समय सवेरे का होने से सर्विस करते हुए नियमित रहकर विदिशा से ही एम. ए. (हिन्दी) में उत्तीर्णता प्राप्त की। बाद में स्कूल की ओर से एक वर्ष तक नियमित रहकर ही भोपाल विश्वविद्यालय से बी. एड. की परीक्षा उत्तीर्ण की।

इसतरह लौकिक शिक्षा हुई। अजमेर में सन् 79 में आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिवर में धर्मरत्न स्व. पण्डित श्री बाबूभाईजी के हार्दिक आमंत्रण पर पण्डितजी जयपुर के श्री टोडरमल महाविद्यालय के प्राचार्य के पद पर आ गये।

यद्यपि आजीविका की दृष्टि से पण्डित रतचन्द भारिल्ल एवं उनकी पत्नी कमला भारिल्ल विदिशा (म.प्र.) में ही रहे। बाद में 1979 में टोडरमल महाविद्यालय के प्राचार्य के रूप में जयपुर आ गये; किन्तु जैनधर्म में न्यायतीर्थ होने से एवं जैनधर्म में अधिक रुचिवंत होने से वे जहाँ भी रहे वहीं जैनदर्शन का अध्ययन/अध्यापन तथा निस्वार्थ भाव से सुबह-शाम सार्वजनिक रूप से प्रवचन भी आजीवन करते रहे।

आपके प्रवचन अत्यन्त सरल भाषा में तथा जनप्रिय होते हैं। प्रवचन की दृष्टि से आपका कार्य क्षेत्र सारा भारतवर्ष है। साहित्य के माध्यम से विदेशों में भी पढ़े-सुने जाते हैं।

लन्दन में हुए पंचकल्याणक के अवसर पर लन्दन की यात्रा की तथा एकबार सिंगापुर, मलेशिया भी पण्डितजी गये थे।

पण्डितजी की वेशभूषा और खान-पान

एक बातचीत में पण्डित भारिल्लजी ने बताया कि उनकी वेशभूषा सदैव भारतीय संस्कृति के अनुकूल कुर्ता-धोती ही रही।

एक बार विदिशा में अपने साथी अध्यापकों के आग्रह पर अनिवार्य स्कूल की ड्रेस के लिए सफेद पेन्ट शर्ट सिलवा तो लिया, किन्तु मात्र एक माह ही पहना। उसके बाद छूट की स्वीकृति लेकर वह ड्रेस कभी नहीं पहनी।

वे टोपी मात्र प्रवचन करते समय तथा विशेष अवसरों पर ही पहनते हैं। अध्यापन के समय, दफ्तर में तथा घर में और घूमते-फिरते समय वे नंगे सिर ही रहते हैं।

संयोग से विद्यार्थी जीवन में भी उन्होंने अधिकांश धोती-कुर्ता ही पहना; क्योंकि गोपाल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय मुरैना में भी अधिकांश धोती-कुर्ता ही पहने जाते थे। कुन्दकुन्द विद्यालय राजाखेड़ा में भी लगभग यही पहनावा रहा। बचपन में यदा-कदा कुर्ता-पायजामा तो पहना; पर पेन्ट-शर्ट तो कभी नहीं पहने।

पण्डितजी ने बताया कि हमने खान-पान में रात्रि भोजन तो कभी किया ही नहीं, लहसुन, प्याज भी कभी छुआ तक नहीं। आलू, बेंगन, शकरकंद, जमीकंद भी 10 वर्ष की उम्र के बाद से कभी नहीं खाये।

हमारे जमीकंद रहित खान-पान के कारण हमारे बच्चे शुद्धात्मप्रकाश एवं उसके बच्चे अर्थात् हमारे पोता-पोती सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी तो जमीकंद का स्वाद ही नहीं जानते; क्योंकि घर में तो ये आते ही नहीं, बच्चे लोग संस्कारवश एवं उनकी हेयता का ज्ञान कराने के कारण वे बाजार में भी कभी जमीकंद का उपयोग नहीं करते।

पण्डित भारिल्ल का जैन समाज में स्थान

मैंने (जिनेन्द्र शास्त्री ने) पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल से बातचीत के बीच पूछा- आपने जैन समाज के लिए क्या किया ?

उत्तर में पण्डितजी ने बताया कि मेरी भावना है कि मैंने जैनधर्म के बारे में जितना जो कुछ सीखा है, जाना है, समझा है एवं जीवन में अपनाया है; मैं वह सब कुछ न केवल जैन समाज के लिए बल्कि जैनेत्तर समाज भी जो समझना चाहें, उन सभी को निःस्वार्थभाव से कुछ भी आर्थिक अपेक्षा रखे बिना जैनधर्म का रहस्य भली-भाँति समझा दूँ। एतदर्थ जब भी/जहाँ से भी आमंत्रण प्राप्त हुए मैंने अपनी पूरी ताकत लगाकर वहाँ पहुंचकर भी समझाने का प्रयत्न किया। दशलक्षण पर्व में तथा अष्टान्हिका पर्वों में तो मैं समाज के आमंत्रण पर अनेकों जगह गया ही हूँ। मेरा नियम है कि मैं मार्ग व्यय के सिवाय समाज से एक पैसे की भी अपेक्षा नहीं रखता। एतदर्थ

मुझे जहां तक स्मरण है मैं दिल्ली, मुम्बई, मद्रास, मुजफरनगर, भीलवाड़ा, जयपुर, इन्दौर, खुरई, मेरठ, भोपाल, फिरोजाबाद, विदिशा, अहमदाबाद, मैनपुरी, आगरा, सागर, देवलाली, भिण्ड, ग्वालियर, बीना, कटनी, करहल, कुरावली, मौ, भौगाँव, ललितपुर, झाँसी, बबीना, सेरोन, अशोकनगर, खतौली, सहारनपुर, बड़ौत, सरधना आदि बहुत स्थानों पर गया हूँ। कहीं-कहीं तो अनेकों बार भी गया हूँ। सभी जगह से खूब सम्मान एवं सम्मानपत्र भी भेंट किये गये तथा 47 आध्यात्मिक प्रशिक्षण शिविरों में 20-20 दिन तक नियमित उपस्थित रह कर प्रवचन एवं कक्षाओं के संचालन में सक्रिय सहयोगी रहा हूँ। आगे भी जब तक मेरी अन्तिम सांस चलेगी, मैं समाज के हित में जो भी संभव होगा, करता ही रहूँगा। मैं 82 वर्ष का हो गया हूँ और 21 वर्ष की उम्र से नियमित रूप से पर्यूषण पर्व अष्टान्हिका पर्व एवं शिक्षण एवं प्रशिक्षण शिविरों आदि में नियमित जाता ही रहा हूँ। मेरी तो ऐसी इच्छा है कि प्रवचन की गद्दी पर ही अंतिम साँस लूँ।

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के विद्यागुरु

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के लौकिक विद्यागुरु तो अनेक रहे हैं, फिर भी जिनका विद्यार्थी जीवन में धर्म और न्याय शास्त्र पढ़ाने में विशेष योगदान रहा है, उनमें मुरैना महाविद्यालय के प्राचार्य आदरणीय पण्डित श्री मक्खनलालजी शास्त्री, श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन विद्यालय के प्राचार्य आदरणीय पण्डित श्री नन्हेंलालजी शास्त्री, राजाखेड़ा तथा मुरैना महाविद्यालय के प्राध्यापक पण्डित गणेशीलालजी शास्त्री, न्यातीर्थ तथा पण्डित श्री राजधरलालजी व्याकरणाचार्य मुरैना का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

बाद में गृहस्थ जीवन में आने के बाद जिनके कारण अध्यात्म का विशेष लाभ मिला, जिनके कारण जीवन में आमूलचूल परिवर्तन हुआ, जिनके कारण मानव जीवन सफल हो गया, वे हैं पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी। श्री कानजीस्वामी सोनगढ़ (गुजरात) में रहते थे। हमारे जीवन में तत्त्वज्ञान की अजस्रधारा उन्होंने ही बहाई, अतः वे हमें सदा विशेष स्मरणीय रहेंगे।

पण्डित भारिल्लजी ने बताया कि उनकी शादी उन्नीस वर्ष की उम्र में हो गई थी, उस समय उनकी पत्नी मात्र 14 वर्ष की ही थी। मेरी पूज्य माताजी की लम्बी बीमारी के कारण मेरी पत्नी को अपने माता-पिता और पीहर में रहने का मोह तोड़कर मेरी माँ की सेवा में रहना पड़ा; क्योंकि उस समय हमारी एक वर्ष की तो पढ़ाई बाकी थी तथा बाद में हमें आजीविका के लिए भी बाहर जाना आवश्यक था; माँ की बीमारी के कारण पत्नी को भी मेरी माँ की सेवा में रहना आवश्यक था। अतः जब मैंने पत्नी को परिस्थिति से अवगत कराया तो उसने मेरी बात सहर्ष स्वीकार करते हुए अपने पीहर के व्यामोह को तिलांजलि दे दी। उसके इस समझदारी के निर्णय को मैं कभी नहीं भुला सकता।

परिवार :- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का एक ही पुत्र है, जिसका नाम शुद्धात्मप्रकाश है तथा जो अभी 48 वर्ष का है। उसके 22 वर्षीय एक पुत्र सर्वज्ञ व 18 वर्षीय एक पुत्री सर्वदर्शी है, सर्वज्ञ ने मेरी प्रेरणा से इंगलिश मीडियम से 86 प्रतिशत अंक पाकर भी श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में जैनदर्शन के अध्ययन की मुख्यता से प्रवेश ले लिया तथा पौत्री ने भी इंगलिश मीडियम से 76 प्रतिशत अंक प्राप्त कर 10वीं परीक्षा मैट्रिक उत्तीर्ण कर उक्त विद्यालय में ही प्रवेश ले लिया है, इसकी मुझे बहुत खुशी है। यद्यपि उक्त परीक्षाएँ भी राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा ही होती हैं तथा सारे विश्व में ग्रेजुएट के बराबर मान्य है तथापि जैन दर्शन भी वैकल्पिक विषय इन परीक्षाओं में है।

आर्थिक स्थिति :- बातचीत के बीच में पण्डित भारिल्ल ने बताया कि उनके पिताजी ने आर्थिक दृष्टि से अनेक कठिनाइयों और विषमताओं का सामना किया, क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति बहुत सुदृढ़ नहीं थी तथा माताजी 25 वर्षों से रोग शैय्या पर रहने से उन्हें संभालने के कारण पिताजी कुछ विशेष व्यापार नहीं कर पाये थे। सामान्य साहूकारी का काम बरौदास्वामी में ही था, जिससे उनका दैनिक खर्च ही चल पाता था। साथ ही पिता बहुत ही धार्मिक प्रकृति के थे, जैनी खेती नहीं करते, सोचकर उन्होंने खेती नहीं की,

ईमानदारी से जो मिला, उसी में संतुष्ट रहे। बीमारी के कारण खर्च अधिक था। इधर उन्हें अपने बच्चों को पण्डित बनाने की दिली-तमन्ना (हार्दिक भावना) थी। इस कारण मूलपूजी भी खर्च करके काम चलाया, परन्तु उन्होंने हमारा पढ़ना बंद नहीं किया।

बाद में तो हम दोनों भाइयों ने यथासंभव अर्थपूर्ति करने के भरसक प्रयास किये। अब कोई आर्थिक समस्या नहीं रही है, क्योंकि अब तो तीनों भाइयों के बेटे पूर्ण कर्मठ हैं और अपने-अपने कार्यक्षेत्र में कुशल एवं सक्षम हैं।

पण्डित श्री रतनचन्द का बहुआयामी व्यक्तित्व

शोधकर्ता ने जब पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल से उनके आध्यात्मिक परिचय के विषय में बात की तो पण्डित रतनचन्दजी ने बताया कि — गुरुदेवश्री कानजीस्वामी से प्रभावित होने के कारण मैं अपने साथियों के साथ सोनगढ़ भी तब तक नियमित प्रतिवर्ष जाता रहा जब तक कि गुरुदेव श्री कानजीस्वामी जीवित रहे।

जीवन के प्रथम चरण में विविध स्थानों पर धर्माध्यापक के रूप में रहकर तो काम करता ही रहा, साथ ही इसी बीच लगभग दो वर्ष मैं कोटा में रहा। कोटा के बाद लगभग दो वर्ष अशोकनगर एवं लगभग 2 वर्ष खुरई में रहा। तत्पश्चात् 18 वर्ष विदिशा एस. एस. एल. जैन हायर सैकण्डरी स्कूल में अध्यापन करते हुए समाज में भी नियमित प्रवचन तथा सामाजिक कार्यों में सक्रिय रहा।

पण्डित भारिल्लजी कोटा में तथा अशोकनगर में भी यथासंभव सामूहिक धार्मिक कार्यक्रमों में भी भाग लेते रहे।

पण्डित भारिल्ल ने बताया कि वे जहां भी रहे, आध्यात्मिक गतिविधियों में भाग लेते रहे। उन्होंने बताया कि खुरई में तो मैं सन् 59 के पर्यूषण पर्व में प्रवचनार्थ सोनगढ़ से ही गया था। वहां की समाज पर्यूषण पर्व के 10 दिन के प्रवचनों से इतनी प्रभावित हो गई कि उन्होंने वहीं स्थायी रूप से बसने का न केवल आमंत्रण दिया, बल्कि एतदर्थ वहां नगरपालिका के हाईस्कूल में पढ़ाने के लिए नियुक्ति भी दिला दी, क्योंकि वहां का समाज आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि ग्रन्थ तथा मोक्षमार्गप्रकाशक को

पण्डित भारिल्लजी से ही सुनना चाहता था। पण्डित भारिल्लजी ने बताया— यद्यपि समाज मात्र प्रवचन सुनने के बदले में मेरे आवासादि की सभी व्यवस्थाएँ करने में एवं भरपूर वेतन देने को उत्सुक था, किन्तु प्रवचन के बदले वेतन लेने से जब पण्डितजी ने इन्कार किया और कहा कि मैं प्रवचन तो अपनी रुचि से निःशुल्क ही करूंगा। प्रवचन के बदले में कुछ नहीं लूंगा। तब समाज ने प्रयत्न करके नगरपालिका के हाई स्कूल में पण्डित भारिल्ल जी की अध्यापन कार्य की व्यवस्था कराई और सम्पूर्ण समाज ने लगभग दो वर्ष तक पण्डितजी के प्रवचनों का भरपूर लाभ लिया।

शोधकर्ता के पूछने पर पण्डित भारिल्लजी ने बताया कि सन् 1962 में मैं विदिशा में एस.एस.एल. जैन हायर सैकण्डरी स्कूल में आ गया। वहां भी ग्रीष्मावकाश में प्रवचनार्थ ही गया था, किन्तु वहां के समाज ने भी मुझे प्रवचनों का लाभ लेने के लिए सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द जैन हायर सैकण्डरी स्कूल में रख लिया। वहां मैं 18 वर्ष रहा तथा वहां स्कूल में अध्यापन के साथ बी. ए., एम.ए. तथा बी.एड. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं, क्योंकि मैं चाहता था कि स्वतंत्र आजीविका के साथ ही मैं समाज की निःशुल्क सेवा करूँ। विदिशा में मैंने सुबह—शाम प्रवचन एवं पाठशाला का संचालन भी किया।

आदरणीय बाबूभाईजी ने कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट मुम्बई के अध्यक्ष की हैसियत से अजमेर के प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर सन् 1979 में मुझसे जयपुर आने के लिए कहा तो मैं उन्हें मना नहीं कर सका और हम दोनों पति—पत्नी वहाँ से स्तीफा देकर जयपुर आ गये।

यहां आकर मैंने श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धांत महाविद्यालय के प्राचार्य के रूप में काम तो किया ही, साथ ही जैनपथप्रदर्शक, जो मेरे सम्पादकत्व में विदिशा से ही निकलता था उसे मैं जयपुर ले आया और उसके माध्यम से समाचारों की मुख्यता से तो कार्य किया ही, साथ ही अनेक विशेषांकों के माध्यम से भी प्रचार—प्रसार का बहुत काम किया, जिसकी जानकारी यथास्थान दी जा रही है।

राजनैतिक एवं सामाजिक कर्तृत्व

एक साक्षात्कार में आदरणीय पण्डित रतनचन्द भारिल्ल ने स्वयं बताया कि सन् 1955 में वे कांग्रेस पार्टी की ओर से कांग्रेसी नेता श्री भैरोसिंह लोधी के नेतृत्व में ग्राम सभा बरौदास्वामी के अध्यक्ष पद हेतु चुनाव में खड़े हुए थे उसमें श्री पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल को विजय प्राप्त तो हुई, किन्तु बाद में इनके सामाजिक प्रतिकूल परिस्थितिवश विचारों में परिवर्तन आने से इन्होंने राजनीति से ही संन्यास ले लिया था।

बरौदास्वामी के अध्यक्ष पद के चुनाव के बाद गाँव में सामाजिक संघर्ष के कारण तथा गाँव में ईमानदारी से रहकर व्यापार करना असंभव लगने से पण्डितजी ग्राम सभा की अध्यक्षता एवं कांग्रेस पार्टी से इस्तीफा देकर एवं धर्मरुचि के कारण राजनीति से भी संन्यास लेकर सपरिवार बबीना में आकर बस गये थे। आये तो व्यापार के उद्देश्य से थे, पर डेढ़ वर्ष में ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रचारित सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय के प्रश्न ने उन्हें झकझोर दिया और ज्यों-ज्यों उस क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त से उनका हृदय आन्दोलित हुआ त्यों-त्यों ही व्यापार ढीला पड़ता गया और जल्दी ही व्यापार बंद करके उन्होंने पुनः शिक्षण के क्षेत्र में सर्विस करने का इस कारण निर्णय ले लिया, ताकि आगे स्वाध्याय चालू रख सकें।

जब तक बबीना में रहे, व्यापार के साथ धार्मिक गतिविधियों में भी सक्रिय रहे, वहाँ निःस्वार्थ भाव से धार्मिक पाठशाला चलाते रहे, प्रवचन भी करते रहे, किन्तु क्रमबद्ध पर्याय के सिद्धान्त के कारण लगभग डेढ़ साल में ही उन्होंने बबीना भी छोड़ दिया।

सर्विस हेतु वे कोटा गये, वहाँ अकलंक विद्यालय एवं अग्रवाल दिगम्बर जैन मन्दिर की धार्मिक पाठशाला में लगभग दो वर्ष रहे; पर अध्यात्म के शिविर में सोनगढ़ जाने में बाधा के कारण कोटा छोड़ कर श्रावण माह में 20 दिन के शिविर में सोनगढ़ चले गये। सोनगढ़ से पर्यूषण पर्व में प्रवचनार्थ खुरई गये। वहाँ पर्यूषण पर्व के 10 दिन में समयसार पर हुए प्रवचनों से प्रभावित होकर समाज ने पण्डितजी

को वहीं रोक लिया, जिसकी चर्चा इसी ग्रंथ में अन्यत्र है ही। शिविर के निमंत्रण पर विदिशा में प्रवचनार्थ गये तो वहां की समाज ने एस. एस.एल. जैन हा. सै. स्कूल में स्थान देकर पण्डित रतनचन्दजी से प्रवचन आदि के लिए निवेदन किया। इसतरह वहां 18 वर्ष तक रहकर सुबह-शाम प्रवचन एवं पाठशाला के संचालन के साथ तथा हायर सैकेण्डरी स्कूल में अध्यापन के साथ स्नातक, स्नातकोत्तर तथा बी. एड. (बी.ए., एम.ए. तथा बी.एड.) की परीक्षाएँ भी दीं।

सामाजिक दायित्व

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल एक लेख में लिखते हैं कि — हम सब सामाजिक प्राणी हैं। इस कारण किसी न किसी रूप में समाज के साथ पारस्परिक सम्बन्ध तो होते ही हैं वे सम्बन्ध हमारी स्वयं की क्रोधादि कषायों के कारण बनते-बिगड़ते भी रहते हैं।

आज सभी के समक्ष ये समस्याएँ हैं। चाहे वह विद्यार्थी जीवन हो, चाहे दाम्पत्य जीवन की हो या पारिवारिक जीवन की हो, चाहे पड़ोसी के साथ का जीवन हो। इन सब परिस्थितियों में अपने सम्बन्ध को मधुर कैसे बनाया जा सकता है? यह विचारणीय है।

कभी-कभी ये संघर्ष धर्म की आड़ में होते हैं, समाज सेवा और राष्ट्रोन्नति के नाम पर होते हैं, तब और भी कठिन समस्या खड़ी हो जाती है।

जगत्जन इस उत्पन्न हुए दूषित-विषाक्त वातावरण का दोष दूसरों को देकर आपस में लड़ते हैं। इसमें किसी कलयुग का दोष नहीं है, यह हमारी ही ना समझी का दुष्परिणाम है, अतः हमें अपनी समस्याओं को दूरदृष्टि से सोच समझकर निबटाना होगा।

जैनदर्शन में भी इसके समाधान हैं। जैनदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है— वस्तुस्वातंत्र्य का और सर्वज्ञता का।

एकाध को छोड़कर ऐसा कोई भारतीय धर्म व दर्शन नहीं है, जो अपने ईश्वरों को सर्वज्ञ न मानता हो। चार्वाक मत को छोड़कर प्रायः सभी अपने-अपने ईश्वर को सर्वज्ञ तो मानते ही हैं तथा वस्तु स्वातंत्र्य में भी विश्वास करते ही हैं। हिन्दू धर्म के सर्वश्रेष्ठ महाकवि

तुलसीदासजी कहते हैं— “हुइये वही जो राम रचि राखा।”

“मुस्लिम बन्धु कहते हैं कि खुदा की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता।” इससे यह तो स्पष्ट ही है कि उसका कर्ता भले ही कोई ईश्वर हो, अल्ला हो, राम, रहीम आदि कोई भी हो, पर इतना तो तय है कि उसके कर्ता हम नहीं हैं।

छात्रों में ईसा मसीह के प्रति श्रद्धा पैदा करने का इसाइयों का तरीका:— एक समय की घटना है जब ड्राईवर ने जानबूझकर गाड़ी रोक दी और सब विद्यार्थियों से कहा— ‘सब अपने-अपने ईश्वर को याद करो तो गाड़ी चल जायेगी, परन्तु गाड़ी नहीं चली तो पुनः ड्राईवर ने कहा अब सब ईसामसीह की जय बोलो। ईसामसीह की जय बोलते ही गाड़ी चल गई। इसप्रकार ईसाई अपने ईसामसीह के प्रति बालकों में श्रद्धा पैदा करते हैं। अतः हम चाहें तो ईश्वर की आस्था के बल पर भी परस्पर मधुर सम्बन्ध बना सकते हैं।

इसीप्रकार सभी व्यक्ति अपनी-अपनी धार्मिक आस्थाओं के आधार पर भी सामाजिक एकता और शान्ति बना सकते हैं। यह भी एक उपाय है शान्ति कायम करने का, परन्तु यह शान्ति स्थाई नहीं है, सच्ची भी नहीं है।

किसी की आस्था को किसी एक धर्म के माध्यम से बदलना आसान नहीं है, क्योंकि जो व्यक्ति जिस संस्कृति एवं धार्मिक विचारों में जन्मा है, उसके विचार बदलना सहज नहीं है।

कोई बिरले गुरुदेव श्री कानजीस्वामी जैसे पुरुषार्थी व्यक्ति ही अपने जीवन में आमूलचूल परिवर्तन कर सकते हैं।

रतनचन्द भारिल्ल के भूतकाल सम्बन्धी धार्मिक विचार

विक्रम की प्रथम शताब्दी में जैनधर्म भी दो खण्डों में विभक्त हो चुका था— (1) दिगम्बर (2) श्वेताम्बर। प्रारम्भ में दोनों संप्रदायों के साधु वनवासी और नग्न हुआ करते थे। पांचवीं-छठी शताब्दी के पश्चात् कुछ दिगम्बर तथा श्वेताम्बर साधु चैत्यालयों में स्थायी रूप से निवास करने लगे।

15वीं, 16वीं सदी में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एक मूर्ति पूजा की विरोधी क्रान्ति ने जन्म लिया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में लोकाशाह द्वारा

मूर्ति पूजा के विरोध में उपदेश प्रारम्भ हुआ। जिसके फलस्वरूप श्वेताम्बरों में एक स्थानकवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई। यह सम्प्रदाय ढूँढ़िया धर्म के नाम से भी पुकारा जाता है।

हिन्दू धर्म तो पहले से ही बहुदेव वादी था। इस्लाम धर्म में भी अन्य भारतीयों की भाँति ही अनेक भेद-उपभेद बन गये। वह समय हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भक्तिकाल का था। भक्ति आन्दोलन के प्रभाव के कारण विभिन्न धर्मों में पारस्परिक प्रेम भावना दिखाई देती थी।

मुगल काल में सिख धर्म का उदय हुआ था। इसी काल में (विक्रम की 16-17वीं शताब्दी में) दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में बीस पंथ तथा तेरापंथ का उदय हुआ था। ये आपस में टकरा रहे थे। उनके विचारों में समानता नहीं थी। बीसपंथी बैठकर पूजा करते, मन्दिर में दाल-भात चढ़ाते, तीर्थकर के चरणों में चन्दन केशर लगाते, भगवान के चरणों में फूल चढ़ाते, क्षेत्रपाल-पद्मावती की पूजा करते, स्त्रियाँ तीर्थकर भगवान का अभिषेक करतीं। जबकि तेरापंथी खड़े होकर पूजन करते, शारीरिक स्वास्थ्य की दुर्बलता आदि से मजबूरी में ही बैठकर पूजा करते, स्त्रियाँ भगवान का स्पर्श नहीं करतीं, भगवान के चरणों में केशर-चन्दन नहीं लगाते आदि प्रकार से तेरापंथ और बीसपंथ की पूजन पद्धति में बहुत अंतर है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में सोलहवीं सदी में मुसलमान राजाओं द्वारा हिन्दुओं की मूर्तियों के भंजन के कारण दिगम्बर मुनि तारणस्वामी ने भी एक ऐसे पंथ की स्थापना की जो 'तारणपंथ' कहलाता है। ये मन्दिर की बेदियों में मूर्ति के स्थान पर शास्त्र विराजमान करते हैं, परन्तु स्वयं तारणस्वामी ने मूर्तिपूजा का विरोध कभी नहीं किया। परिस्थितिवश वेदी पर शास्त्र विराजमान किए।

विक्रम की सोलहवीं-सत्रहवीं सदी हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के रूप में जानी जाती है, जिसे हिन्दी साहित्य में भी भक्ति काल नाम दिया गया है, यह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता था। उस समय हिन्दू धर्म में भी अनेक मत-मतान्तर थे। उनमें वैष्णव, शैव

और शाक्त नामक तीन सम्प्रदाय मुख्य थे। वे उक्त तीनों संप्रदायों में विभक्त होकर अनेक प्रभेदों से गुजर रहे थे। कबीर आदि संतों द्वारा प्रवर्तित धर्म भी थोड़े बहुत भेदों के साथ चल रहा था।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल कालीन धार्मिक स्थिति

यद्यपि पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का जन्म दिगम्बरों के तेरापंथ परम्परा में हुआ था, पर इनका अध्यापन बीसपंथी विद्वान् स्व. पण्डित मकखनलाल शास्त्री 'तिलक' के सान्निध्य में श्री गोपाल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय मुरैना (म. प्र.) में हुआ था। इसप्रकार पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल के व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर तो ऐसा लगता है कि वे दोनों परम्पराओं से जुड़े थे; परन्तु उन्हें वह बीस पंथ एक दिन भी नहीं सुहाया; क्योंकि वे जन्म से ही तेरापंथी तो थे ही, तेरापंथ की पूजन पद्धति भी पूर्ण अहिंसक एवं आडम्बर विहीन शुद्ध-सात्विक आगम सम्मत होने से उन्हें यही अच्छी लगती थी। पण्डित भारिल्लजी के प्रवचनों एवं चर्चा से भी ऐसा ही लगता है कि वे ऐसा ही मानते थे, "अष्टद्रव्य तो केवल आलम्बन मात्र हैं। जैसे वृद्ध या बीमार व्यक्ति को लाठी के सहारे की आवश्यकता होती है, वैसे ही जिनका चित्त चंचल है, उनके लिए ही ये पूजन के अष्टद्रव्य आदि अवलम्बन हैं, इन अष्टद्रव्यों के चढ़ाने का अन्य कोई खास प्रयोजन नहीं है। भगवान की मूर्ति भी अपने आप में एक आलम्बन ही है। पूजा में ऐसा आता भी है— 'आलम्बनानि— विविधानि अलम्ब्य' अर्थात् मैं विविध आलम्बन लेकर आपकी पूजा करता हूँ तथा वीतरागी देव को एवं निर्ग्रन्थ गुरु को तुम्हारी इस भोग की प्रतीक सामग्री से क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं। शुद्ध तेरापंथ आम्नाय में स्त्रियां वीतराग भगवान का स्पर्श भी नहीं करतीं।

यद्यपि पढ़ते समय बचपन में पण्डित भारिल्ल को इन बातों का पता हो या नहीं, परन्तु जब वे अब इसका चिन्तन करते हैं और उन्होंने जितने चिंतनपरक प्रवचन किए एवं साहित्य लिखा है, तो उनकी वह एक-एक बात हृदय को स्पर्श करती है।

उन्होंने आगम के उद्धरण देकर बताया कि "असंजदो न बंदिवो" अर्थात् असंयमियों की वंदना-पूजा नहीं होती, जबकि बीस पंथ

आम्नाय में (देवी-देवताओं के रूप में) असंयमियों की पूजा-वंदना खूब होती है, भले वे उन्हें भगवान का भक्त या सेवक कहते हैं, परन्तु बीसपंथी भगवान से अधिक पूजा-भक्ति देवी-देवताओं की करते हैं, क्योंकि वे ऐसा मानते हैं कि भगवान तो वीतराग हैं, उन्हें भक्तों से कोई प्रयोजन नहीं है। वे तो वीतरागभाव से मित्र-शत्रु को एक ही नजर से देखते हैं तथा उनका भक्त यदि हमारी भक्ति से प्रभावित हो जाये तो वह हमें मनोवांछित फल दे सकता है। यही मान्यता उन्हें वीतरागदेव की पूजा एवं जैनधर्म के सही स्वरूप से वंचित रखती है। अस्तु।

इस बीसवीं सदी में गुजरात में एक ऐसे महापुरुष का जन्म हुआ जिसने एकदम सहज रहकर दिगम्बर जैनधर्म के अनुसार वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता का उद्घोष कर तथा बालब्रह्मचारी साधुवत् जीवन जीकर अपने को असंयमी अब्रती चतुर्थ गुणस्थानवर्ती घोषित कर और आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र जैसे भावलिंगी संतों के मूलभूत 'वस्तुस्वातंत्र्य' के संदर्भ में वस्तुस्वरूप की घोषणा की तथा समयसार गाथा 320 की टीका के आधार पर क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझाकर अरहन्त आदि का स्वरूप समझाया।

जब मैंने (जिनेन्द्रशास्त्री शोधकर्ता ने) पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के विचारों को जाना तो उन्होंने बताया कि पहले तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जैन साहित्य को साम्प्रदायिक साहित्य कहकर इसे हिन्दी साहित्य की प्रारंभिक देन से नकार दिया था।

यद्यपि इस सोच में आचार्य शुक्ल का दोष नहीं था; क्योंकि उत्तर भारत में वैसे हिन्दी साहित्य के आचार्य (प्रोफेसर) शुक्ल जी को जब तक मन्दिरों, उपासकों, स्थानकों तथा गर्भगृहों में उपलब्ध ऐसी साहित्यिक कृतियां एवं पाण्डुलियों के दर्शन भी नहीं हो सके थे, अतः इनके मूल्यांकन करने का अवसर उन्हें नहीं मिल सका था।

इसके विपरीत आचार्य (प्रोफेसर) महावीर प्रसाद द्विवेदी ने यह कहा कि यदि जैन साहित्य को साम्प्रदायिक साहित्य कहकर नकारा जायेगा तो महाकवि तुलसी की हिन्दी रामायण व महाभारत भी धार्मिक साहित्य है, इसे भी हिन्दी साहित्य के क्षेत्र से बाहर करना

पड़ेगा। इस तरह तो हिन्दी साहित्य कुछ रहेगा नहीं तथा उन्होंने जैन साहित्य व संस्कृति को देखा था, अतः उन्होंने बताया कि जैन साहित्य का हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान अविरल है। अतः जैनसाहित्य को नकारा नहीं जाना चाहिए।

इन्हीं सब तर्कों के आधार से कालान्तर में (आज के संदर्भ में) जैन साहित्य का अनुशीलन हुआ और यह जैन साहित्य हिन्दी साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया।

इस दृष्टि से पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का नाम अग्रगण्य लेखक विद्वानों की श्रेणी में आता है। इन्होंने अपने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के सृजन करने में जैनधर्म के सिद्धान्तों की मुख्यता से आज के संदर्भ में हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं पर अपनी कलम चलाई है।

गद्य साहित्य में निबन्ध, उपन्यास, कहानियाँ लिखी हैं तथा पद्य साहित्य में आत्मकथ्यों के रूप में फुटकर कवितायें और 24 तीर्थकरों की स्तुतियाँ पंचास्तिकाय संग्रह का हिन्दी पद्यानुवाद आदि भी किए हैं।

परिस्थितियों के अनुरूप समाधान खोजने की क्षमता

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, समाज में वर्तमान वातावरण एवं परिस्थितियों के कारण उथल-पुथल होना स्वाभाविक है। इनके अनुकूल-प्रतिकूल होने में पूर्वकालिक परम्पराओं एवं परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पाया जाता है।

18वीं सदी तक भारतीय समाज पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित रहा था। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज के बिना मानव का सर्वांगीण विकास संभव नहीं है। समाज के निर्माण में पूर्वकालीन परम्पराओं, मान्यताओं और परिस्थितियों का प्रभाव पाया जाता है, जिसका प्रभाव साहित्यकारों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर भी प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से अवश्य पड़ता है।

साहित्यकार अपने युग की पूर्ववर्ती व समवर्ती परिस्थितियों से प्रभावित भी होते हैं तथा अपने कृतित्व से दूसरों को भी प्रभावित करते हैं।

जनता की चिन्तवृत्ति पर देश की राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक और धार्मिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः साहित्य की

परंपरा को समझने के लिए इन सबका ज्ञान आवश्यक है।

प्रथम शताब्दी में लगभग 2000 वर्ष पूर्व में हुए आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत भाषा में मूल गाथाओं में लिखे गये समयसार, प्रवचनसार, नियमसार एवं पंचारस्तिकाय ग्रन्थों के आधार से तथा आचार्य कुन्दकुन्द के बाद दसवीं शताब्दी में हुए आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति नामक समयसार की संस्कृत टीका के बाद पण्डित जयचन्द्र छाबड़ा की हिन्दी टीका, क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी की हिन्दी टीका के आधार पर पण्डित रतनचन्द्रजी भारिल्ल ने उन्हें भली-भांति पढ़कर उस पर प्रवचन किए तथा मूल समयसार एवं संस्कृत टीका पर गुजराती भाषा में हुए गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी के प्रवचनों का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया, इसप्रकार पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल ने प्राकृत व संस्कृत भाषा का भी अध्ययन किया तथा उसी के आधार पर पण्डित भारिल्लजी ने उपर्युक्त शास्त्रों का गहन अध्ययन करके गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के गुजराती भाषा में हुए प्रवचनों का भाषान्तर भी किया, जो प्रवचन रत्नाकर के नाम से 11 भागों में लगभग छह हजार पृष्ठों में हिन्दी भाषा में प्रकाशित है।

इसप्रकार पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल को प्राकृतिक भाषा का सामान्य ज्ञान होने के साथ संस्कृत भाषा का तथा गुजराती एवं हिन्दी भाषा का अच्छा ज्ञान है।

पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल के व्यक्तित्व का विकास

पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल के व्यक्तित्व के विकास में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की वे पंक्तियां सटीक साबित होती हैं, जिनमें उन्होंने कहा है कि—

“जितने कष्ट कंटकों में है, जिसका जीवन सुमन खिला।

गौरव गंध उन्हें उतना ही यत्र-तत्र-सर्वत्र मिला।”

जैसे कमल कीचड़ में खिलता है, गुलाब कांटों में ही अपनी सुगंध लिखेरता है, हीरा-मिट्टी की खान में से निकलता है, उसी तरह 82 वर्ष पूर्व बालक रतनचन्द्र का जन्म एक ऐसे गांव में हुआ था जहाँ उस समय प्राथमिक पाठशाला भी नहीं थी। नल-बिजली भी नहीं थी। यातायात के कोई साधन भी नहीं थे। जखौरा स्टेशन बरौदास्वामी

गांव से 10 कि.मी. दूर था, जहां बैलगाड़ी से या सिर पर पेटी-बिस्तर रखकर आना-जाना पड़ता था।

पिताजी की माली हालत ठीक नहीं थी। कभी बैलगाड़ी का साधन मिलता और कभी नहीं भी मिलता।

पिताजी घर में अकेले थे, संयोग से माँ को बोन टी.बी. हो गई थी, बड़ी बहिन की शादी होकर वह ससुराल चली गई। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में पण्डितजी ने कैसे पढ़ा? कैसे इस मुकाम तक पहुंचे इसकी बड़ी ही कारुणिक कहानी है।

पण्डित भारिल्लजी ने बताया कि 'गाँव में स्कूल न होने से हमें प्रारम्भ में तो घर पर पिताजी ने ही साक्षर किया। बाद में 6 कि.मी. दूर ननौरा गाँव के स्कूल में जाना प्रारम्भ किया। कक्षा 5 तक वहाँ पढ़े, वहाँ जाते समय रास्ते में भयंकर जंगल (घने पेड़, सुनसान डरावनी जगह) पड़ता था।

गांव के बड़े विद्यार्थी हमें छोटा समझकर डराया करते। उनसे जैसे-तैसे दोस्ती और संघर्ष करते हुए वहाँ पढ़े। बाद में जब गांव के दो जैन लड़के पढ़ने हेतु बाहर गये, तब हमारा मन हुआ, हम भी बाहर जायें, परन्तु पिताजी उतनी दूर भेजने को तैयार नहीं हुए, हम रोये और खाना भी नहीं खाया तो पिताजी ने आश्वस्त किया, तुम्हें भी भेजेंगे और सन् 46 में येन-केन प्रकारेण हम दोनों भाई जिला-टीकमगढ़ (म.प्र.) के निकट स्थित पपौरा विद्यालय में भर्ती हो गये। वहाँ जैनदर्शन की पढ़ाई में एक ही कक्षा में भर्ती हुए, जुलाई सन् 47 में हम दोनों ने उस छोटी सी उम्र में स्व विवेक से मुरैना में गोपाल दिगम्बर जैन महाविद्यालय में भर्ती होने का निर्णय लिया और वहाँ भर्ती भी हो गये, परन्तु जब बीमारी के कारण माँ की हालत बिगड़ने लगी तो हमारी पढ़ाई पर पुनः संकट के बादल छा गये।

बहिन अब पीहर में अधिक नहीं रह सकती थी, निकटवर्ती रिश्तेदार ने पिताजी को सलाह दे डाली कि रतनचन्द को घर के सहारे को रखो और हुकमचन्द को पढ़ने को भेज दो।

यह सुनकर जब मैं बहुत रोया तो पिताजी ने मुझे आश्वस्त किया। तू चिन्ता मत कर। मैं किसी की सलाह नहीं मानूंगा। मैं दोनों को पढ़ाऊंगा, भले मुझे कितना भी कष्ट क्यों न उठाना पड़े। ऐसी

प्रतिकूल परिस्थितियों में पण्डित भारिल्लजी ने कैसे पढ़ा होगा? पाठक स्वयं अनुमान लगा सकते हैं।

पढ़ने के बाद आजीविका के कारण दोनों भारिल्ल भाइयों को अलग-अलग रहना पड़ा, परन्तु दोनों भाइयों के बीच प्रारम्भ से कुछ ऐसा स्नेह रहा कि उन्हें अलग-अलग रहना बिल्कुल पसंद नहीं था। इस कारण वे दोनों एक बार पुनः एक साथ रहने के हिसाब से मुरैना आ गये थे। उस समय तक दोनों भाई मात्र शास्त्री, न्यायतीर्थ ही थे।

पण्डित भारिल्लजी ने बताया कि मैं मुरैना महाविद्यालय में पढ़ाने लगा और हुकमचन्द ने आगे अंग्रेजी लाइन में हाई स्कूल करने हेतु कॉलेज में प्रवेश का मन बनाया, परन्तु परिस्थितिवश मुरैना भी छह माह में ही छोड़कर घर आना पड़ा।

गांव में साहूकारों द्वारा गरीब किसानों का शोषण देख कर हम लोगों के मन ने विद्रोह किया, हम दोनों ने ग्राम सभा और ग्राम पंचायत के चुनाव भी लड़े। हम दोनों जीत भी गये। मैं ग्राम सभा का अध्यक्ष बन गया और हुकमचन्द ग्राम पंचायत के सरपंच, परन्तु विरोधियों द्वारा व्यापार में बाधायेँ खड़ी करने के कारण हमें गांव छोड़कर बबीना आना पड़ा।

वहां हमारे पारस्परिक स्नेह को देखकर कोई हमें राम-लक्ष्मण कहता तो कोई भरत-बाहुबली कहता और कोई अकलंक-निकलंक कहता।

वहीं बबीना में ही हमें गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी और उनकी क्रमबद्धपर्याय से परोक्ष परिचय हुआ। उससे हमारा व्यावसायिक जीवन ही लड़खड़ा गया।

तब हमें यह बर्दाश्त नहीं हुआ कि मात्र आजीविका के लिए जीवन जिया जाये। अतः हमने यह निर्णय लिया कि टीचिंग की सर्विस द्वारा 5-6 घण्टे की आजीविका करके शेष जीवन अध्यात्म के अध्ययन/अध्यापन एवं प्रचार-प्रसार में क्यों न लगाया जाये? एतदर्थ हमने अपने जीवन को पुनः मोड़ लिया और हुकमचन्द अशोकनगर आ गये। उसके बाद हुकमचन्द अशोकनगर से इन्दौर और इन्दौर से जयपुर आ गये। मैं अशोकनगर, कोटा तथा खुरई के बाद 18 वर्ष विदिशा एस. एस. एल. जैन इन्टर कॉलेज में रहा और यहां जयपुर

में टोडरमल महाविद्यालय खुलने पर मैं विदिशा छोड़कर जयपुर आ गया। यहां आकर विगत 34 वर्ष में जो कुछ कार्य मेरे द्वारा हुआ, उसकी चर्चा यथास्थान है ही।

इस संदर्भ में जब हम पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के व्यक्तित्व को परखते हैं तो वे न केवल साहित्यिक हैं, बल्कि वे साहित्यिक होने के साथ और भी बहुत कुछ हैं। पण्डित रतनचन्दजी सुयोग्य शिक्षक, कुशल प्रशासक, सूक्ष्म सम्पादक, निस्वार्थ भाव से समाज सेवा में समर्पित होने के साथ-साथ मिलनसार और शान्त स्वभावी, 'सादा जीवन उच्च विचार' वाले व्यक्ति हैं। निरभिमानी, निश्चल स्वभावी तथा निर्मल चित्तवृत्ति रूप रहना उनकी स्वाभाविक क्रियायें हैं।

20वीं सदी में अध्यात्म के क्षेत्र में पण्डितजी को सबसे अधिक यदि किसी ने प्रभावित किया तो वे हैं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी। श्री कानजीस्वामी ने तो पण्डित रतनचन्द के जीवन की दिशा ही बदल दी। जब वे लगभग 24 वर्ष के थे, तब उन्हें पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के द्वारा संगृहीत क्रमबद्धपर्याय के दो अंक बबीना के मन्दिर मिले थे, जिन्हें पढ़कर वे बहुत प्रभावित हुए और तभी से वे श्री कानजीस्वामी से प्रत्यक्ष मिलने के लिए लालायित रहने लगे। यद्यपि पारिवारिक कठिनाइयों के कारण वे सन् 59 में ही प्रथम बार सोनगढ़ जा पाये; परन्तु स्वामीजी द्वारा निर्देशित तत्त्वज्ञान का अभ्यास उन्होंने सन् 1957 से ही प्रारम्भ कर दिया था।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल हिन्दी साहित्य, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अग्रणी हैं। उन्होंने अपना जीवन समाज और धर्म के लिए समर्पित किया है।

पण्डित भारिल्ल शुक्लजी के निबंध साहित्य, गुप्तजी की सरल भाषा से तथा प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक प्रभावित रहे। यही कारण है कि उनके साहित्य में उक्त महानुभावों के साहित्य का प्रभाव देखा जा सकता है।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य का कैदियों पर प्रभाव

पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल ने बताया कि— "इसे एक सहज संयोग ही कहा जायेगा कि नासिक जेल से उन्हें एक कैदी राजकुमार गुप्ता का एक असंभावित पत्र प्राप्त हुआ, पढ़कर उन्हें आश्चर्य हुआ।

राजकुमार गुप्ता किसी अपराध के कारण नासिक जेल में सजा काट रहा था। उसके सद्व्यवहार के कारण उसकी सजा अन्य कैदियों जैसी कठोर नहीं थी, एक दिन जेल के पुस्तकालय में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का लिखा 'संस्कार' नामक उपन्यास उसके हाथ लग गया। उसे पढ़कर वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसको 'संस्कार' के लेखक को धन्यवाद देने का तीव्र विकल्प आया और वह तत्काल उन्हें पत्र लिखने बैठ गया। उसके बाद तो बहुत समय तक उन कैदियों से पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल का पत्र-व्यवहार चलता रहा।

ज्ञातव्य है कि कैदियों के जीवन को सुधारने के लिए, उनकी अपराधिक प्रवृत्ति कम करने के लिए वहां शासन की ओर से ऐसी गतिविधियों की व्यवस्था भी होती है, जिससे उन्हें कुछ शिक्षा मिले, सुधारने के कुछ अवसर मिलें।

किसी साहित्य प्रेमी ने पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के संस्कार की कुछ प्रतियां वहां जेल के पुस्तकालय को प्रदान की थीं और वह 'संस्कार' पुस्तक उस राजकुमार गुप्ता को पढ़ने को मिल गयी। उस उपन्यास को पढ़कर उसने बड़ी श्रद्धाभक्ति भरा 4 पृष्ठ का पत्र लिखा, उसमें संस्कार की प्रशंसा तो थी ही, साथ ही लिखा था कि संस्कार के लेखक की जितनी कृतियां हों, हमें तुरन्त भिजवाने की कृपा करें तथा भविष्य में जो भी प्रकाशित हों, भिजवाने की कृपा करें। एतदर्थ उन्होंने पुस्तकों के बदले अग्रिम राशि भी भिजवाने की व्यवस्था की।

राजकुमार गुप्ता ने अपने साथियों को भी वह पुस्तक पढ़ने को दी, जिनके नाम हैं— हितेश शाह, जोगेन्द्रसिंह, सरजू सिंह आदि 6 व्यक्तियों ने अपने जीवन को आमूलचूल परिवर्तन करके भविष्य में कभी कोई अपराध न करने की प्रतिज्ञायें लीं तथा लिखा कि पण्डित भारिल्ल सा. के साहित्य को हम सभी श्रद्धा से पढ़ रहे हैं।

ये पुस्तकें जले पर मरहम का काम करती हैं।

नासिक जेल के कैदियों में हो रहे परिवर्तन से प्रभावित होकर जेल अधिकारी ने उक्त कैदियों के निवेदन पर भारिल्ल बंधुओं को कैदियों के लिए उद्बोधन करने हेतु नासिक जेल में आमंत्रित किया

था। वहाँ जाकर दोनों भारिल्ल बन्धुओं ने कैदियों को सम्बोधित किया था, जिसे कैदियों ने बड़े मनोयोगपूर्वक ध्यान से सुना। संबोधन सुनकर अपने आपको धन्य मानते हुए दोनों संबोधनकर्ताओं का हार्दिक आभार माना था।

एन.सी.आर.पी. जेल नासिक के एक बन्दी ने पण्डित रतनचन्द भारिल्ल को एक पत्र में लिखा था कि, "आपके साहित्य से प्रभावित होकर मैं सुख व शान्ति के पथ पर चलकर अपने आपको बहुत सौभाग्यशाली समझता हूँ तथा संसार के सभी जीवों को सदाचारी व अहिंसक जीवन जीने की कामना करता हूँ।

अब मैं अपने आपमें एक नई शक्ति का अनुभव करता हूँ यहाँ से जाने के बाद मैं स्वयं तो कभी कोई अपराध करने की बात सोचूंगा भी नहीं तथा सभी को अपराध न करने की नसीहत देता रहूँगा तथा अपने घरवालों को पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का सत्साहित्य पढ़ने की प्रेरणा भी दूँगा, ताकि वे भी कोई अपराध करने का सोचें भी नहीं।

शोधकर्ता की हैसियत से मैं (जिनेन्द्र शास्त्री) सोचता हूँ कि जब व्यक्ति समाज में था तब कुंठाओं से घिरा रहने के कारण तथा बेरोजगारी, ईर्ष्या-द्वेष और बदले की भावना के कारण ऐसे अपराध कर बैठता है कि जेल जाना पड़ता है, परन्तु वही व्यक्ति यदि वहाँ सत्साहित्य को पढ़कर स्वयं में नैतिक भावनाओं को जगा सकता है तो हमें वहाँ अधिक से अधिक सत्साहित्य अवश्य भेज देना चाहिए।

पण्डित रतनचन्दजी के पूर्व की राजनैतिक परिस्थितियाँ

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के पूर्वकालीन एवं साहित्यिक दृष्टि से भारत की राजनीतिक पृष्ठभूमि सन् 1757 में अंग्रेजों के बंगाल और 1803 ई. में दिल्ली जीतने से प्रारम्भ होती है।

विभिन्न प्रदेशों में अंग्रेजों ने मनमाने ढंग से अपना शासन और आर्थिक व्यवस्था लागू कर दी थी। सन् 1857 में प्रथम स्वाधीनता संग्राम के परिणामस्वरूप देश में प्रथम राष्ट्रीय चेतना का जागरण हुआ। 1857 की क्रान्ति के बाद ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी के शासन का अंत करके भारतीय शासन की बागडोर 1858 में सीधी अपने हाथ में ले ली।

ई. सन् 1885 में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से देश के प्रशासन में भारतीयों के योगदान की शुरुआत हुई। इस बीच बाल गंगाधर तिलक ने 'स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का गुरुमंत्र देश को दिया। सन् 1899 से 1905 तक के अपने शासन काल में लार्ड कर्जन ने अनेक अन्यायपूर्ण कानून बनाये। 1905 में बंगाल का विभाजन किया। कर्जन ने शासन की सुविधा के नाम पर बंगाल को दो टुकड़ों में बांट दिया।

ब्रिटिश सरकार से प्रोत्साहन पाकर मुस्लिम नेताओं ने 30 सितम्बर 1906 ई. को ढाका में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग नामक संस्था की स्थापना की।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देश में अनेक प्रश्न खड़े हुए। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में— "हिन्दू जाति के नाना भेद-प्रभेदों के बीच एक संगठित जातीयता का निर्माण, हिन्दू-मुस्लिम और ईसाई आदि विभिन्न धर्मानुयायियों में एक अन्तर्व्यापी मानव सूत्र का अनुसंधान, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच खाइयाँ पाटना" प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अपने देश के सामने ये प्रधान प्रश्न थे।

सन् 1919 में 'जलियांवाला बाग' हत्याकाण्ड हुआ। ऐसे समय में महात्मा गांधी भारतीय राजनैतिक मंच पर प्रकट हुए। गांधी के सक्रिय सहयोग से 20 अगस्त, 1920 को असहयोग आन्दोलन तथा स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। असहयोग आन्दोलन में सभी वस्तुओं, नौकरियों, शिक्षा-संस्थाओं आदि का बहिष्कार किया गया। गांधीजी के इस आन्दोलन से असंतुष्ट नेताओं ने 1922 ई. में स्वराज्य पार्टी की स्थापना की। वहीं 4 फरवरी, 1922 ई. को चोरा-चोरी नामक काण्ड हुआ। सन् 1927 ई. में भारत में साइमन कमीशन आयोग आया, जिसका विरोध हुआ। लाहौर-अधिवेशन में पारित प्रस्ताव के अनुसार कांग्रेस के आदेश से 26 जनवरी, 1930 ई. के दिन को सारे देश में 'स्वतंत्रता दिवस' के रूप में मनाया गया।

12 मार्च, 1930 ई. को सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। जिसे 'दाण्डी यात्रा' के रूप में जाना जाता है।

सन् 1920 से 1934 ई. के दरम्यान अंग्रेजी की फूटपरस्ती नीति का कुचक्र खूब साकार हुआ और हिन्दू-मुस्लिम का साम्प्रदायिक संघर्ष भी काफी जोरों से छिड़ा और पाकिस्तान की मांग की गई। इस प्रकार पण्डित रतनचन्द्र के पूर्व राजनीतिक परिस्थितियाँ बहुत उतार-चढ़ाव की रहीं।

समकालिक राजनैतिक परिस्थितियाँ एवं उनका प्रभाव

1942 में महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत छोड़ो आंदोलन प्रारम्भ हुआ, जिसमें गांधीजी ने 'करो या मरो' का नारा दिया। उस समय सारी भारतीय जनता आजादी की प्राप्ति के लिए एकजुट होकर अंग्रेजों से सत्ता अपने हाथ में लेने के लिए कूद पड़ी। फलतः 15 अगस्त, 1947 ई. को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति मिल गई और हम स्वतंत्र हो गये। सत्ता हम भारतीयों के हाथ में आ गई।

स्वतंत्रता: आजादी प्राप्ति के साथ ही साम्प्रदायिक दंगे भड़के। महात्मा गांधी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयास किए। स्वतंत्रता के समय भारत का राजनैतिक मानचित्र दो भागों में विभाजित था। ब्रिटिश राज्य और देशी राज्य। उस समय भारत में 562 देशी राज्य थे। सरदार वल्लभ भाई पटेल ने इन देशी राज्यों का एकीकरण किया। देशी राज्यों के एकीकरण के बाद 26 जनवरी, 1950 को नया संविधान लागू हुआ। इस संविधान के तहत राष्ट्रपति को देश का सर्वोच्च व्यक्ति माना गया।

जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने। उन्होंने खादी के साथ मिलों के चलाने का समर्थन किया; क्योंकि अकेले खादी के भरोसे इतने बड़े देश की उन्नति उन्हें संभव नहीं लगी। उन्होंने देश को संभालने का प्रयत्न किया, पर पूरी तरह संभला नहीं, कांग्रेस गुटबाजी की शिकार हो गई। जनता सरकार से खिन्न रहने लगी। जब विश्वनाथ प्रतापसिंह प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा कर दी उनके इस मंडलवाद से देश फिर जातिवाद में उलझ गया। इसी समय राममन्दिर व बाबरी मस्जिद का विषय उछल गया, जिससे साम्प्रदायिक विवाद छिड़

गया। इसतरह ऐसा साम्प्रदायिक वातावरण बना, जो आज तक भी छुट-पुट रूप से बना हुआ है।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के समय भी लोकतांत्रिक राजनीति तो रही, परन्तु वह भ्रष्टाचार से नहीं उबर पा रही है। संसद एवं विधानसभाओं का वातावरण कुछ ठीक नहीं है। दल-बदल की प्रवृत्ति बढ़ रही है, सत्ता को हथियाना मुख्य हो गया है, एतदर्थ आये दिन पार्टी बदल लेने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

साहित्य की दृष्टि से प्रगतिवाद की प्रवृत्ति सन् 1936 से 1953 तक मानी जाती है। इस समय साहित्य की मूल प्रेरणा सामाजिक चेतना रही है। प्रगतिवाद शोषित वर्ग, किसानों एवं मजदूरों का पक्षधर रहा है। प्रगतिवाद ने अवतार लिया। प्रयोगवाद में घोर वैयक्तिकता एवं अतिबौद्धिकता की प्रवृत्तियाँ काम करने लगीं।

काव्य में गद्य साहित्य ने भी विकास किया। गद्य साहित्य में अनेक नवीन विधायें प्रारम्भ हुईं। संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्टाज, रेडियो रूपक, यात्रावृत्त, डायरी, आत्मकथा, साक्षात्कार आदि नवीन विधाओं का सृजन हुआ।

इस समय के साहित्य में निबंध, आंचलिक उपन्यास, हास्य-व्यंग्य, नयी कहानी आदि सभी गद्य विधाओं में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए।

इसी काल में जैन साहित्य में भी गद्य-पद्य की सभी प्रकार की रचनायें निर्मित हुईं। साथ ही आध्यात्मिक शैली मुख्य रही।

उपन्यास, निबंध, एकांकी, आत्मकथा, काव्यरचना, महाकाव्य, खण्डकाव्य, समालोचना, यात्रावृत्त, साक्षात्कार आदि सभी विधाओं पर साहित्यसृजन हुआ। अनुवाद का कार्य भी बहुत हुआ। धवला, जयधवला, महाधवला जैसे संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद तथा टीकायें पण्डित फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री तथा डॉ. हीरालालजी जैन ने की। इस समय सबसे अधिक जैन साहित्य पूर्ववर्ती आचार्यों तथा नवीन लेखकों का प्रकाशित हुआ।

साहित्यिक परिस्थितियों का प्रभाव - पण्डित भारिल्ल के समय में भी गद्य विधाओं में जो अत्यधिक लेखन कार्य हो रहा है, उसका प्रभाव भी इन पर पड़ा। इन्होंने गद्य की निम्नांकित चार विधाओं पर लेखन कार्य किया है। इनके छः उपन्यास हैं। एक

कहानी संग्रह है तथा अनेक प्रकाशित/अप्रकाशित निबंध हैं। एक निबन्ध की पुस्तक है, जिसमें 21 निबंध एवं 3 कहानियाँ हैं तथा इसके साथ कुछ प्रकाशित पद्य रचनायें भी हैं, जिनकी जानकारी इसी शोध प्रबंध में यथास्थान दी गई है।

लोकप्रिय लेखक एवं प्रवचनकार

सुहागनगरी फिरोजाबाद (उ. प्र.) से डॉ. ऋषभदास जैन, पूर्व रीडर स्नातकोत्तर महाविद्यालय (पी.जी. कॉलेज) लिखते हैं कि ख्यातिप्राप्त विद्वान प्रभावशाली वक्ता, सुलेखक, प्रखरबुद्धि एवं विलक्षण प्रतिभा के धनी आकर्षक व्यक्तित्व वाले प्राचार्य श्री पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के सम्बन्ध में दो शब्द लिखकर मैं स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर रहा हूँ।

आपने यहाँ कई बार पधार कर यहाँ के जन-जन के हृदय में अपना स्थान बना लिया है। आपका स्नेह, वात्सल्य और विद्वत्ता ने सबके मन पर अमिट छाप छोड़ी है।

आप जैनदर्शन के उद्भट विद्वान एवं व्याख्याता हैं। आप प्रख्यात शिक्षाविद्, साहित्यानुरागी, धर्ममर्मज्ञ एवं यशस्वी सम्पादक हैं। आप वस्तुतः सरस्वती पुत्र, कुशल लेखक तथा निर्विवाद विद्वत्ता के सर्वमान्य व्यक्तित्व हैं।

भारतीय संस्कृति के जैनतत्त्वज्ञान को उजागर करने वाले आप अनुपमरत्न हैं। विनय एवं विवेक आपके स्वाभाविक गुण हैं।

आपकी 27 पुस्तकें तो मौलिक हैं तथा अनेक पुस्तकों का सम्पादन तथा गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के 19वीं बार समयसार पर हुए गुजराती प्रवचनों का 11 भागों में आपने हिन्दी अनुवाद किया है, जो ग्यारह पुस्तकों के छह हजार पृष्ठों में प्रकाशित है।

ये पुस्तकें सरल, सुबोध, सर्वग्राह्य शैली में लिखी होने से खूब सराही गई हैं। सभी कृतियाँ व्यावहारिक एवं जनोपयोगी हैं। छोटी-बड़ी सभी 56 पुस्तकें आपके द्वारा लिखी गई हैं, जिनमें नैतिक शिक्षा, आध्यात्मिक ज्ञान तथा पारिवारिक एवं सामाजिक समाधान भी दिये गये हैं। आप प्रवचनकार के साथ सामाजिक कार्यकर्ता भी हैं। मैं आपसे इतना अधिक प्रभावित हूँ कि जितना भी लिखूँ वह कम ही रहेगा।

पारिवारिक एवं विभिन्न व्यक्तियों के विचार

मेरे जीवन निर्माता : जिनेन्द्र शास्त्री, उदयपुर

स्वयं शोधकर्ता कहता है कि 'मुझे प्रसन्नता है कि मेरे जीवन शिल्पी रहे पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल मेरे विद्यागुरु भी रहे हैं, उन्होंने मुझे पढ़ाया। मैं 5 वर्ष तक उनका विद्यार्थी रहा हूँ। शान्त स्वभावी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल अध्यात्म विद्या के प्रबल पक्षधर एवं आध्यात्मिक प्रवचनकार भी हैं। शिक्षण के रूप में आजीविका की साधना भी ऐसी ही अपनाई, जिससे जिनवाणी माँ की सतत् सेवा होती रहे।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल न केवल अपनी विद्वतता और विशेष ज्ञान के कारण, बल्कि अपनी सरलता और निरभिमानता के कारण अपने परिवार और सम्पूर्ण जैन समाज में जाने/पहचाने जाते हैं।

धर्म, दर्शन और साहित्य के अनेक विद्वानों ने पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं— उन विद्वानों के विचारों से हम यह जान सकते हैं कि पण्डितजी का अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व कैसा है? पण्डितजी ने समाज में कैसा स्थान बनाया है? इस दृष्टि से यहां कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वों के विचार दे रहा हूँ।

पण्डितजी विगत 35 वर्षों से जब से जैनपथप्रदर्शक प्रारम्भ हुआ तभी से उसके यशस्वी आद्य सम्पादक हैं, जो उनके सफल पत्रकार होने का प्रबल प्रमाण है। उनका सम्पादन मात्र जैनपथप्रदर्शक तक सीमित नहीं है, वे कई पुस्तकों के भी सम्पादक हैं। अनेक पुस्तकों के सम्पादकीय तथा अनेक पुस्तकों की प्रस्तावनायें तथा आलेख लिखकर भी उन्होंने अपनी लेखनी को साहित्येत्तर क्षेत्र में गति प्रदान की है। वे समय-समय पर सम्पादकीय के रूप में अनेक वैयक्तिक, धार्मिक व सामाजिक लेख भी लिखते रहे हैं।

साहित्यिक पुस्तकों में निबन्ध, उपन्यास, गद्य-पद्य काव्य भी लिखे हैं, जिनकी चर्चा प्रस्तुत शोध सामग्री में प्रस्तुत की ही जायेगी।

पण्डित श्री रतनचन्दजी के बारे में राष्ट्रसंत पूज्य मुनिराज आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज जो अभी दिल्ली में विराज रहे हैं,

उन्होंने लिखा है कि— धर्मानुरागी विद्वान पण्डित रतनचन्द भारिल्ल जैन समाज के उच्च कोटि के विद्वानों में एक हैं।

वर्तमान में जिस प्रकार एक दीपक के हजारों दीपक जलते हैं, एक बीजान्न से अनेक बीजान्न उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार वे अनेक विद्वानों को तैयार करके जिनवाणी की महान सेवा कर रहे हैं।

पण्डितजी एक सिद्धहस्त एवं आगमनिष्ठ लेखक भी हैं, उनका ज्ञान अत्यन्त प्रामाणिक है, जो उनकी प्रत्येक कृति में अभिव्यक्त हो रहा है। चाहे वह जिनपूजन रहस्य हो, चाहे णमोकार महामंत्र। मुझे उनकी किसी भी कृति में एक अक्षर भी आगमविरुद्ध लिखा नहीं मिला।

उन्हें आचार्यकल्प कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं।

वे स्वस्थ और दीर्घायु होकर इसीतरह विद्वानों को तैयार करते रहें और इस तरह श्रेष्ठ साहित्य लिखकर समाज की सेवा करते रहें—यही हमारा उन्हें आशीर्वाद है।

— चलते-फिरते सिद्धों से गुरु, पृ. सं. 20

आचार्य धर्मभूषण महाराज लिखते हैं कि — “धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल अत्यन्त सरल स्वभावी हैं और उन्होंने जिनागम के रहस्य प्रगट करने वाले महत्त्वपूर्ण ज्ञानवर्द्धक साहित्य की रचना की है। अभी उन्होंने शलाका पुरुष एवं हरिवंशकथा जैसी अनुपम पुस्तकों का सुन्दर लेखन किया है। आप जैन समाज में इसी प्रकार का लेखन एवं प्रचार-प्रसार करते रहें, यही मंगल आशीर्वाद है।

अध्यात्म योगी मुनिराज निर्वाण सागरजी महाराज लिखते हैं कि— “मैंने पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल के व्याख्यान अनेक बार सुने हैं, ललितपुर के विधान में, विदिशा के पंचकल्याणक में तथा अशोकनगर में पंचकल्याणक में मैं था। पण्डितजी वहां आये थे। धूवोनजी तीर्थक्षेत्र में भी पण्डित रतनचन्दजी आये थे।

उनके प्रवचन बहुत सरल एवं व्यावहारिक होते हैं। मैंने उनके द्वारा अनुवाद किये गये समयसार के प्रवचन भी पढ़े, कहीं कोई आगम विरुद्ध बात नहीं है। उनका साहित्य निर्विवाद और अत्यन्त सरल भाषा में होते हुए आध्यात्मिक हैं। जिन पूजन रहस्य, णमोकार

महामंत्र, विदाई की वेला, सामान्य श्रावकाचार, संस्कार आदि सभी पुस्तकें बहुत उपयोगी हैं। मैने हरिवंश कथा, शलाका पुरुष भाग 1 व भाग 2 भी देखे हैं

निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रत्नदीप में प्रकाशित लेख बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी पण्डित रतनचन्द भारिल्ल "परिवारजनों एवं विद्वदजनों की दृष्टि में"

1. मेरी जीवन यात्रा के कुछ प्रेरक प्रसंग—पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
2. आदरणीय बड़े दादा —डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर
3. मेरे जीवन शिल्पी — श्रीमती कमला भारिल्ल, जयपुर
4. पण्डितजी से जीजाजी—श्री प्रकाशचन्द जैन, ज्योतिर्विद, मैनपुरी
5. सरस्वती पुत्र पं. रतनचन्द भारिल्ल— सुरेशचन्द जैन, बैंगलोर
6. सरलता एवं सौयता की जीवन्त प्रतिमा—श्रीमती शैल बंसल
7. औसत मनुष्य से बहुत ऊपर — परमात्मप्रकाश भारिल्ल, मुम्बई
8. दादाकुछ अलग हैं — शुद्धात्मप्रकाश भारिल्ल, जयपुर
9. पूज्य बड़े दादा, उनकी जीवन शैली और उनके साहित्य में काव्य की झलक — श्रीमती संध्या भारिल्ल, जयपुर
10. कर्मयोगी तपस्वी — अविनाश टडैया, एल. एल. बी. मुम्बई (महा)
11. जीवन हो तो ऐसा — डॉ. शुद्धात्मप्रभा टडैया, मुम्बई
12. कौन जानता था कि — ये इतनी तरक्की करेंगे — गुलाबचन्द जैन लागोन वाले।
13. साहित्य के माध्यम से विश्व के कौन-कौने में पहुंचगये— सि. नाथूराम जैन, बबीना
14. सभी कृतियां उच्च कोटि की हैं— श्रीमती सरोज जैन मुरार (ग्वालियर)
15. पण्डित रतनचन्द भारिल्ल एवं उनका जीवन दर्शन — बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल', कोटा
16. शीघ्र मुक्ति कन्या का वरण — पण्डित कैलाशचन्द जी, अलीगढ़

17. सरल व्यक्तित्व के धनी - डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर
18. निर्लिप्त आकाश के पक्षी - डॉ. अभयप्रकाश जैन, ग्वालियर
19. सजग प्रहरी - डॉ. मानमल जैन, कोटा
20. ज्योतिर्मान नक्षत्र - डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
21. पण्डित रतनचन्द भारिल्ल की कृतियां - डॉ. निर्मला जैन, उदयपुर
22. सौजन्यता की प्रतिमूर्ति - डॉ. फूलचन्द जैन, वाराणसी
23. मुमुक्षु समाज के महात्मा गांधी - डॉ. अनेकान्त जैन, दिल्ली
24. प्रज्ञा पुंज पण्डित भारिल्लजी - डॉ. विमलकुमार जैन, जयपुर
25. मेरे परम उपकारी - डॉ. वी. धनकुमार, मद्रास
26. बेजोड़ व्यक्तित्व के धनी - विद्यावारिध डॉ. महेन्द्रकुमार प्रचंडिया, पीएच.डी. लिट,
27. अनोखी प्रतिभा के धनी - डॉ. पी.सी. जैन, निदेशक - राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
28. इतने गुण एक ही व्यक्ति में मिलना मुश्किल - डॉ. ताराचन्द बक्सी, जयपुर
29. एक हीरा हाथ लग गया - डॉ. कपूरचन्द कौशल, भोपाल
30. जैन अध्यात्म के विवेचक - डॉ. शशिकान्त, लखनऊ

साहित्य सृजन में

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का प्रदेय

छोटी-बड़ी मिलाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल द्वारा 56 पुस्तकों का सृजन हुआ है, जो गद्य, पद्य, कहानी एवं उपन्यास के रूप में अनेक संस्करणों में लाखों की संख्या में प्रकाशित चुका है। इनमें 16 पुस्तकें अनूदित हैं, जिनका गुजराती से हिन्दी में पण्डित रतनचन्द भारिल्ल ने अनुवाद किया है। ज्ञातव्य है कि प्रत्येक संस्करण 5 हजार से कम का नहीं है।

जो निम्नांकित 28 पुस्तकें स्वरचित हैं— वे इस प्रकार हैं —

1. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती), (दस संस्करण), (उपन्यास)
2. विदाई की वेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती) 10 संस्करण (उपन्यास)
3. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म. गु.), 5 संस्करण

4. सुखी जीवन (हिन्दी, मराठी) (चार संस्करण) (उपन्यास)
5. गणोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.) 17 संस्करण
6. जिनपूजन रहस्य (हि., म., गु., क.) 1 लाख 64 हजार (अनेक संस्करण)
7. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु., क.) अनेक संस्करण ।
8. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी) अनेक संस्करण
9. बालबोध पाठमाला भाग-1 (हि.म.गु.क.त.अं.), अनेक संस्करण ।
10. क्षत्रचूडामणि परिशीलन (दो संस्करण हिन्दी)
11. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)
12. द्रव्यदृष्टि : हिन्दी (अनेक संस्करण)
13. हरिवंश कथा, हिन्दी, मराठी (अनेक संस्करण)
14. षट्कारक अनुशीलन, दो संस्करण
15. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध, दो संस्करण
16. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध, दो संस्करण
17. ऐसे क्या पाप किए (तीन संस्करण) (हिन्दी) निबंध
18. नीव का पत्थर (उपन्यास), अनेक संस्करण ।
19. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद) (दो संस्करण)
20. तीर्थकर स्तवन (पद्यानुवाद) (दो संस्करण)
21. साधना-समाधि और सिद्धि (तीन संस्करण)
22. चलते फिरते सिद्धों से गुरु (दो संस्करण)
23. जान रहा हूँ देख रहा हूँ (कहानियाँ), (दो संस्करण)
24. पंचास्तिकाय परिशीलन
25. यदि चूक गये तो (तीन संस्करण)
26. जिन खोजा तिन पाइयाँ (दो संस्करण)
27. ये तो सोचा ही नहीं (तीन संस्करण)
28. जम्बू से जम्बू स्वामी (तीन संस्करण)
- सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी)
- 29 से 39. प्रवचनरत्नाकर भाग 1 से 11 तक (सम्पूर्ण सेट) (हिन्दी, गुजराती) में प्रकाशित ।
40. सम्यग्दर्शन प्रवचन (हिन्दी, गुजराती में प्रकाशित) तीन संस्करण ।

41. भक्तामर प्रवचन (हिन्दी, गुजराती में प्रकाशित) दो संस्करण
42. समाधिगतक प्रवचन (हिन्दी, गुजराती में प्रकाशित) दो संस्करण।
43. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा 99 से 102) प्रकाशित।
44. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में (हिन्दी, गुजराती में प्रकाशित)
45. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह) (हिन्दी में दो संस्करण)
46. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह) (हिन्दी में दो संस्करण)
47. अध्यात्म वरणी (तारण स्वामी) (हिन्दी में प्रकाशित)।
48. गुणस्थान विवेचन
- 49 से 57. जैनपथप्रदर्शक के 9 विशेषांक (आचार्य श्री कुन्दकुन्द, श्रीकानजीस्वामी, श्री बाबूभाई, श्री रामजीभाई एवं श्री खीमचन्द्रभाई के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व विशेषांक तथा दीपावली, निमित्त-उपादान, पंचकल्याणक विशेषांक में।
- 50 समयसार विशेषांक : समयसार पर विद्वानों के लेख

कृतित्व की विभागानुसार सूची

पण्डित श्री रतनचन्द्र भारिल्ल के समग्र कृतित्व को मूलतः दो भागों में बांटा जा सकता है—

1. गद्य साहित्य
 2. पद्य साहित्य
- गद्य साहित्य के भी चार रूप हैं—
1. निबन्ध साहित्य
 2. उपन्यास साहित्य
 3. कहानी साहित्य
 4. पंचास्तिकाय अनुशीलन साहित्य

1. पंचास्तिकाय मूल गाथाओं का (हिन्दी पद्यानुवाद)
2. 24 तीर्थकर स्तुति
3. फुटकर कवितायें (अनेक)
4. अनेक पुस्तकों के प्रारम्भ में

गद्य काव्य द्वारा सम्पूर्ण पुस्तक का सार

निबन्ध साहित्य

1. जिनपूजन रहस्य
2. सामान्य श्रावकाचार
3. पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं
4. षट्कारक
5. णमोकार महामंत्र
6. बालबोध भाग-1

- | | |
|-------------------------------------|-------------------------|
| 7. क्षत्रचूडामणि : परिशीलन | 8. जम्बू से जम्बूस्वामी |
| 9. द्रव्यदृष्टि | 10. हरिवंश कथा |
| 11. शलाका पुरुष भाग-1 | 12. शलाका पुरुष भाग-2 |
| 13. ऐसे क्या पाप किए | 14. साधना-समाधि-सिद्धि |
| 15. चलते-फिरते सिद्धों से गुरु | 16. पंचास्तिकाय परिशीलन |
| 17. यदि चूक गये तो | 18. जिन खोजा तिन पाइयाँ |
| 19. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में | |

उपन्यास साहित्य (कथानक)

- | | |
|-----------------------------|-----------------------|
| 1. संस्कार | 2. विदाई की वेला |
| 3. इन भावों का फल क्या होगा | 4. नींव का पत्थर |
| 5. सुखी जीवन | 6. ये तो सोचा ही नहीं |

कहानी संग्रह एवं समीक्षायें : एक

1. जान रहा हूँ देख रहा हूँ

पद्य साहित्य

- | | |
|-----------------------------|--------------------------------|
| 1. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद) | 2. तीर्थकर स्तुति (पद्यानुवाद) |
| 3. गद्य पद्य लेखन (पद्य) | 4. फुटकर कवितायें (पद्य) |

अनुवादित कृतियां (गुजराती से हिन्दी)

- 1 से 11, तक प्रवचन रत्नाकर के 11 भाग
12. सम्यग्दर्शन (गुजराती से हिन्दी)
13. भक्तामर प्रवचन (गुजराती से हिन्दी)
14. समाधितंत्र (गुजराती से हिन्दी)
15. पदार्थ विज्ञान (गुजराती से हिन्दी)

सम्पादित साहित्य

- | | |
|---|--------------------|
| 1. अहिंसा | 2. तारण स्वामी |
| 3. गागर में सागर | 4. गुणस्थान विवेचन |
| 5. कहानी संग्रह-1 (मूल लेखक जयन्तीलाल नोगामा (राज.) | |
| 6. कहानी संग्रह-2 (मूल लेखक जयन्तीलाल नोगामा (राज.) | |

जैनपथप्रदर्शक के निम्नांकित विशेषांक प्रकाशित हुए-

- | | |
|----------------------------|--------------------------------|
| 1. दीपावली विशेषांक | 2. दशलक्षण धर्म विशेषांक |
| 3. निमित्त उपादान विशेषांक | 4. पण्डित खीमचन्द भाई विशेषांक |

5. श्री बाबूभाई स्मृति विशेषांक
6. आचार्य कुन्दकुन्द विशेषांक
7. समयसार विशेषांक
8. पण्डित बनारसीदास विशेषांक
9. आचार्य कुन्दकुन्द के प्रचार-प्रसार में श्री कानजीस्वामी का योगदान विशेषांक

नोट : पण्डित रतनचन्द की पुस्तकों को पढ़कर श्रीमती शान्तिदेवी जैन ने अपनी डायरी में कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों का संकलन किया तथा श्री महावीर प्रसाद जैन कुल सचिव, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से उनका सम्पादन कर 'जिन खोजा तिन पाइयां' तथा 'यदि चूक गये तो' पुस्तकों का प्रकाशन कराया।

साहित्येत्तर कर्तृत्व

साहित्येत्तर कर्तृत्व के बारे में मेरे प्रश्न के उत्तर में श्री पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने बताया कि उन्होंने मात्र साहित्य लेखन का कार्य ही नहीं किया, अपितु अनेक अन्य कार्य भी किए हैं, जो उनके बहुमुखी कृतित्व को उजागर करते हैं। उनके बहुमुखी साहित्येतर कार्य निम्न प्रकार हैं—

1. अध्यापन कार्य : श्री गोपाल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय मुरैना एवं श्री कुन्दकुन्द विद्यालय राजाखेड़ा से शास्त्री एवं न्यायतीर्थ की परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के बाद पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने सर्वप्रथम सन् 1953 अगस्त से भीलवाड़ा के महावीर मिडिल स्कूल में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। वहाँ उन्होंने अप्रैल, 1955 तक कार्य किया।

वहाँ से जुलाई 55 में मुरैना महाविद्यालय में प्रधानाध्यापक के पद पर आ गये। वहाँ उन्होंने मात्र 6 माह ही काम किया, पिताजी के आग्रह पर वे 1955 में वहाँ से त्यागपत्र देकर अपने ग्राम बरौदास्वामी आ गये। संयोग से उस समय वहाँ ग्रामसभा एवं ग्राम पंचायत के चुनाव का अवसर था। अतः पण्डित रतनचन्दजी एवं हुकमचन्दजी दोनों भाइयों ने कांग्रेस पार्टी से चुनाव में खड़े होने हेतु फार्म भर दिये।

पण्डित भारिल्लजी ने आगे बताया कि मैंने ग्राम सभा बरौदास्वामी के अध्यक्ष पद हेतु फार्म भरा था और हुकमचन्द ने ग्राम पंचायत के सरपंच हेतु फार्म भरा था, संयोग से कहीं या अपनी योग्यता व

होनहार से हम दोनों भाइयों को ही अच्छे वोटों से विजय प्राप्त हुई थी। विजय तो प्राप्त हुई, पर हम जिस ईमानदारी और अपने तौर-तरीकों से काम करना चाहते थे, वैसा संभव नहीं था। वहां तो गन्दे राजनैतिक दांव-पेंच के बिना कोई भी काम संभव नहीं था। हमारे व्यापार पर भी उसका विपरीत प्रभाव देखकर हम दोनों ने ही दोनों पदों से स्तीफा दे दिया और हमने वह साधन विहीन ग्राम बरौदास्वामी छोड़ने का भी निर्णय ले लिया तथा हम व्यापार के उद्देश्य से बबीना आकर बस गये। बबीना समाज ने हमें आदर से अपनाया और व्यापार में भी पूरा सहयोग दिया।

2. बबीना में व्यापार — हमने वहां पाठशाला चलाने एवं प्रवचन करने में समाज का पूरा सहयोग किया। कामकाज तो अच्छा चल ही रहा था; परन्तु 1956 में मुझे बबीना के जिनमन्दिर में आत्मधर्म के दो विशेषांक प्राप्त हुए, जिनमें श्री गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के 13 प्रवचन सर्वज्ञता के संदर्भ में क्रमबद्धपर्याय पर मिले, जिन्हें पढ़कर मेरे हृदय में एक नई क्रान्ति उत्पन्न हुई, जिसने मेरे जीवन में हल-चल पैदा कर दी और उसने मेरे जीवन की धारा ही बदल दी तथा श्रीकानजीस्वामी के प्रति विशेष आस्था भी उत्पन्न हुई, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का सर्वज्ञता से सीधा सम्बन्ध है। जो क्रमबद्धपर्याय से इन्कार करेगा उसे सर्वज्ञता को भी नकारना होगा, जो जैनधर्मानुसार संभव नहीं है। इससे हमारी व्यापार के प्रति रुचि कम हो गई। सन् 1957 में जब श्रीकानजीस्वामी शिखरजी एवं बुन्देलखण्ड की यात्रा पर निकले तो हम उनके साथ सिद्धक्षेत्र सोनगिर (उ.प्र.) गये। वहां चर्चा के उपरांत हमें गुरुदेव कानजीस्वामी द्वारा सोनगढ़ पहुंचने का निमंत्रण तो मिला परन्तु हम आर्थिक उलझनों के कारण दो वर्ष तक वहां नहीं पहुंच पाये।

इसी कारण बबीना का व्यापार तो बंद कर दिया और यह सोचा कि 6 घण्टे का शिक्षण का कार्य करते हुए शेष समय स्वयं अध्ययन करें। आर्थिक स्थिति ठीक होने पर सोनगढ़ जायेंगे तब स्वामीजी से विशेष चर्चा करेंगे। मूल बात तो ख्याल में आ ही गई थी तथा स्वामीजी की सोच पर आस्था भी हो गई थी। भली होनहार थी। इसकारण जैन तत्त्व ज्ञान को समझने में देर नहीं लगी।

कोटा : सर्विस के उद्देश्य से सहज कोटा जाना हो गया, वहां युगलजी तथा उस समय बाबू ज्ञानचन्दजी से मुलाकात हुई। वहां सहज ही अकलंक विद्यालय में सर्विस मिल गई। अनुकूलता देखकर वहां से सोनगढ़ जाने का प्रसंग बन गया। बाधाएँ तो आई पर बाधाओं को पारकर सोनगढ़ पहुंच गये।

विदिशा : उसके बाद जब तक स्वामी रहे, लगभग हम लोग प्रतिवर्ष सोनगढ़ जाते ही रहे। आजीविका की दृष्टि से मैं 18 वर्ष विदिशा-एस. एस.एल. जैन इन्टर कॉलेज में रहा। वहां से लौकिक पढ़ाई कर एम. ए., बी.एड. एवं साहित्यरत्न की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। अंत में जयपुर महाविद्यालय में आ गया, जिसकी चर्चा यथानस्थान हुई ही है।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का साहित्यिक कृतित्व

1. साहित्यिक कर्तृत्व मूलतः दो भागों में विभक्त किया जाता है— (1) गद्यात्मक (2) पद्यात्मक। पण्डित भारिल्लजी का गद्यात्मक साहित्य चार भागों में विभक्त है— पहला निबन्ध शैली में दूसरा — उपन्यास शैली में। तीसरा— कहानी शैली में तथा चौथा फुटकर लेख।

पद्यात्मक साहित्य — पद्यात्मक साहित्य भी दो भागों में विभक्त है— (1) गद्यात्मक पद्य (2) छन्दात्मक पद्य। गद्यात्मक पद्य प्रायः उपन्यासों के प्रारम्भ में जो गद्यात्मक पद्य दिये हैं, उनमें सम्पूर्ण उपन्यासों तथा अन्य ग्रन्थों के कथ्य के सारांश के रूप लगभग दो पृष्ठों में दे दिया गया है।

यह 'आत्मकथ्य' के रूप में लेखक का बिल्कुल नया प्रयोग है। इससे पूरी पुस्तक में जो विषय दिया गया है, उसे जानने की जिज्ञासा सहज हो जाती है।

निबन्ध शैली में लिखे 23 विषयों का संकलन 'ऐसे क्या पाप किये' नामक कृति में संकलित हैं— यहां सर्वप्रथम प्रत्येक निबन्ध का शीर्षक देकर विषय से परिचित कराया जाता रहा है, सम्पूर्ण विषय की जानकारी के लिए मूल कृति पठनीय है।

द्वितीय अध्याय

पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल का सृजन : एक परिदृश्य

हिन्दी साहित्य आरम्भिक चरण में परिस्थितिगत तत्कालीन पृष्ठभूमि पर केन्द्रित था, जो राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि के रूपों में था।

हिन्दी भाषा में पद्य के साथ-साथ गद्य का भी विकास हुआ, जिसका अपना अलग अस्तित्व है, जो विचारों को व्यक्त करने का प्रमुख तथा सुगम साधन भी है, इसके मूल में भावात्मक प्रवृत्ति प्रधान कारण हैं।
आधुनिक काल से पूर्व गद्य -

1. ब्रज भाषा का गद्य (14वीं शताब्दी)

2. खड़ी बोली का गद्य (18वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

हिन्दी गद्य की चतुर्मुखी उन्नति हुई, उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य का विस्तार हुआ, गद्य शैली विकसित हुई। द्विवेदी युग में गद्य की भाषा परिमार्जित होकर सामने आई। द्विवेदी युग की शैली उच्च कोटि के गंभीर, विचारात्मक विषयों को प्रतिपादित करने में समर्थ थी।

कहानी एवं उपन्यास के क्षेत्र में एक नवीन शैली का उद्गम हुआ, जहां प्रेमचन्द्र युग द्वारा हिन्दी का स्वाभाविक तथा जीवंत रूप सामने आया, वहीं कथाकारों का महत्त्वपूर्ण श्रेय रहा। निबंध ने भी गद्य को गति प्रदान की। निबंध अपेक्षाकृत छोटे परन्तु विचार एवं स्वभाव की विशिष्टता से युक्त थे, जिससे रोचकता तथा सजीवता भी सामने आई। विषय की दृष्टि से उसका विभाजन किया गया-

भाषा शैली के निम्नांकित 4 प्रकार हैं-

1. वर्णनात्मक - प्राकृतिक उपकरण सहित गद्य व्यास शैली
2. विवरणात्मक - विवरणयुक्त गद्य शैली
3. विचारात्मक - अनुभूतियों युक्त प्रयोग शैली
4. भावात्मक - बुद्धि प्रधान निबंध शैली

हिन्दी उपन्यास आधुनिक युग की देन है। प्राकृत, संस्कृत की लम्बी परम्परा में जो कथा वर्णन की प्रक्रिया है। वह उपन्यास के तत्त्वों में पूर्ण है। भारतेन्दु युग को हिन्दी उपन्यास साहित्य का जनक माना गया। जिसे विवेचन की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया गया—

1. उपन्यास के जन्म की अवधारणा — विकास का मूल स्रोत
2. उपन्यास के विकास का पथ — अनुवाद परम्परा
3. अभूतपूर्व विकास की अवस्था — सबसे अधिक समृद्ध अवस्था
4. बहुमुखी धारा — प्रगतिवादी आंचलिक रूप विधान।

उपन्यास प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम उपन्यास की परिभाषा देते हुए कहते हैं —

उपन्यास क्या है — उप + न्यास — अर्थात् निकट रखना, सामने रखना या पाठक के निकट मन की विशेष बात कहना उपन्यास है।

‘उपन्यासः प्रसादनं’ प्रसन्न करने का नाम भी उपन्यास है। किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप से प्रस्तुत करना उपन्यास है। उपन्यास में यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति का प्रतिफलन होता है।¹

उपन्यास साहित्य — ‘उपन्यास’ साहित्य की लोकप्रिय विधा है, उपन्यास मनुष्य जीवन के विविध रूपों, आयामों, आकारों, अनुभूति और अनुभवों को व्यापकता, गहराई और विस्तार देता है।²

इसी बात को ध्यान में रखकर लेखक ने तत्त्वज्ञान रूपी कड़वी कुनैन का सेवन कराने के लिए उपन्यास शैली रूप मिश्री के बतासे को माध्यम बनाया है।

यद्यपि लेखक का मूल प्रयोजन ‘तत्त्वज्ञान कराना है, उपन्यास को तो उन्होंने माध्यम बनाया है; क्योंकि यदि कठिन विषय को

1. डॉ. मंजु चतुर्वेदी, ‘हिन्दी साहित्य का समग्र इतिहास’, पृ. सं. 252
2. वही, पृ. 252
3. सुश्री पिउ जैन, एम.एस.सी. अरविन्दनगर, उदयपुर

बोलचाल की भाषा-शैली में कहा जाये तो लोग कठिन विषय को भी आसानी से अपने ज्ञान का ज्ञेय बना सकते हैं। एतदर्थ लेखक का यह प्रयास सफल है।

पण्डित रतनचन्दजी के उपन्यासों की निम्नलिखित विशेषताएं विशेष उल्लेखनीय हैं—

1. पण्डित भारिल्लजी ने अपनी कृतियों के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अपनी बौद्धिक प्रतिभा से उचित पात्रों, घटनाओं, प्रसंगों का चयन किया है तथा अपनी कुशल लेखनी द्वारा उनका वर्णन ऐसे तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत किया है कि जिससे पाठक के मस्तिष्क पर यथार्थ विषयवस्तु अंकित हो जाए।
2. वे नीति सम्बन्धी कथनों एवं शुद्ध सात्विक विचारों के प्रेरक प्रसंगों को ऐसे सरल उदाहरणों से स्पष्ट कर देते हैं कि पाठक प्रभावित हुए बिना ही नहीं रहता।
3. आपके उपन्यासों में अन्याय-अनीति के आचरण से दूर रहकर तथा अभक्ष्य भक्षण को त्यागने के संदेश भी युक्तियुक्त ढंग से प्रस्तुत होते हैं। इस कारण भी पण्डित भारिल्ल की ये कृतियां सार्थक हैं।
4. कथानकों को लेखक प्रारम्भ से लेकर अबतक इतने रोचक ढंग से प्रस्तुत करता है कि पाठक जिस कथानक को पढ़ना प्रारम्भ करता है, उसका अन्त किये बिना उसे छोड़ने का मन ही नहीं होता। वह एक ही बैठक में पूरी पुस्तक पढ़ जाना चाहता है।
5. सशक्त भाषा एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति, प्रभावोत्पादक ढंग तथा लेखन पर पूर्ण नियंत्रण पण्डित रतनचन्दजी के उपन्यासों की विशेषता है।

इस प्रकार के लेखन की विशेषता से उन्होंने जैनों में तो उपन्यासकार के रूप में अपनी अलग पहचान बनायी ही है, जैनेतर भी आपकी सरल सदाचार प्रेरक और तार्किक शैली से प्रभावित होते हैं।

उपन्यासकार पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल

यद्यपि आधुनिक उपन्यासों की परिभाषाओं और औपन्यासिक तत्त्वों के निर्वाह की दृष्टि से पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की औपन्यासिक कृतियों को परखना तो समालोचकों का काम है, किन्तु उन्होंने अपनी कृतियों में उपन्यासों की शैली में जो विषयवस्तु प्रस्तुत की है, वह अपूर्व है, अनूठी एवं अद्भुत है। वह विषयवस्तु पाठकों को इतना अधिक प्रभावित करती है कि उसके प्रभाव में पाठकों का ध्यान उसके कला पक्ष को इतना गौण कर देता है कि इधर पाठकों का ध्यान ही नहीं जाता; फिर भी उन्होंने अपने उपन्यासों में औपन्यासिक तत्त्वों का निर्वाह तो किया ही है।

यद्यपि उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द का गोदान, वृन्दावनलाल वर्मा का 'मृगनयनी' जैसे लोकप्रिय एवं सफल उपन्यास हैं, उनकी विषयवस्तु प्रभावी है; उनमें औपन्यासिक गुण धर्मों का पूर्ण निर्वाह भी हुआ है, किन्तु वे इतने वृहदकारों में हैं कि आज के व्यस्त जीवन तथा टी.वी. (टेलीविजन) के छोटे-छोटे सीरियलों के युग में उनका पढ़ा जाना असंभव सा हो गया है। अतः आज हमें ऐसे छोटे-छोटे शिक्षाप्रद कथानकों की आवश्यकता है, जिन्हें एक ही बैठक में पढ़ा जा सके।

यह विशेषता पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल के उपन्यासों में है। पण्डित भारिल्लजी का 'विदाई की बेला' 'इन भावों का फल क्या होगा', 'सुखी जीवन' आदि सभी (छहों) उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए हैं कि वे अल्पकाल में ही अनेक संस्करणों तथा विविध भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं तथा अनेक पाठकों एवं समीक्षकों की समय-समय पर अनुकूल प्रतिक्रियायें प्राप्त होती रहीं हैं, जिनमें कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियायें इस प्रकार हैं—

हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं में उपन्यास का अपना विशिष्ट स्थान है, क्योंकि उपन्यासों में यथार्थ जीवन का चित्रण होता है।

उपन्यासों से परिस्थितियों का ज्ञान होता है। उपन्यास अनेक कथा प्रसंगों से जुड़ा भी रहता है।

उपन्यासों में वैसे तो काल्पनिक कथा होती है, पर वह मानव की प्रकृति के अधिक निकट होता है। उपन्यास जीवन की वह प्रस्तावित रूपरेखा है, जिसमें कथा के माध्यम से किसी सिद्धान्त को फलित किया जाता है।

उपन्यास की व्याख्या में कहा गया है 'उपन्यासः प्रसादनं' किसी बात को युक्तिपूर्वक प्रस्तुत करना उपन्यास है। उपन्यास मनुष्य जीवन की विविध अनुभूतियों को विस्तार देता है।

डॉ. श्यामसुन्दर दास के अनुसार, "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है, सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है, यह मानव जीवन और मानव चरित्र की व्याख्या करता है और उनका उद्घाटन करता है।"

गुलाब राय एम.ए. लिखते हैं कि, "उपन्यास कार्य-कारण शृंखला में बंधा हुआ वह गद्य कथानक है, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार और पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों से संबंधित वास्तविक व काल्पनिक घटनाओं के द्वारा जीवन के सत्य का रक्षात्मक रूप में उद्घाटन किया जाता है।

जयशंकर प्रसाद की दृष्टि में उपन्यास में यथार्थ की संभावनाओं को महत्त्व देते हुए कहा है कि, "मुझे कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास में यथार्थ का अंकन सरल प्रतीत होता है तथा उपन्यास में दीर्घ कलेवर के कारण चरित्र के फैलाव की अधिक गुणी गुंजाइश होती है।"

इन भावों का फल क्या होगा

पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल ने प्रस्तुत उपन्यास में मनुष्य के वास्तविक जीवन के उद्देश्य तक पहुंचने के लिए सांसारिक जीवन में घटती हुई घटनाओं का क्रम भी है, वे उपन्यास के प्रारम्भिक चरण में कथन करते हैं कि, "ज्ञानी धर्मात्मा लौकिक फल की प्राप्ति के लिए

पूजन भक्ति नहीं करते, वे तो जिनेन्द्र देव की मूर्ति के माध्यम से निज परमात्म स्वभाव को जानकर उसी में जम जाना या रम जाना चाहते हैं।”

‘इन भावों का फल क्या होगा’ उपन्यास आदर्श चित्रण से यथार्थ की ओर ले जानेवाला है। संसार में यथार्थ क्या है, क्या नहीं?

उपन्यासकार इस पर कहते हैं— ‘अज्ञानी होना उतना हानिकारक नहीं है, जितना हानिकारक है अपने अज्ञान का ज्ञान न होना, अपने अज्ञान को स्वीकार नहीं करना।’

उपन्यास का नायक धर्मेश के साथ यही होता है, वह धर्म तो करता है, पर उसे धर्म का ज्ञान नहीं है, वह उपासना करता है, पर असीमित समय तक उपासना में अटके ही रहना, इसी को धर्म मानकर संतुष्ट हो जाना ही उसका महत्त्वपूर्ण कार्य है।

उपन्यास का मूल्यांकन — तत्त्वों की दृष्टि से उपन्यास का मूल्यांकन करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उसके बिना उपन्यास की वस्तुस्थिति का पता नहीं चलता।

1. **कथावस्तु** — एक 12 वर्षीय बालक धर्मेश निःसंकोच भाव से पूजन को महत्त्व देता है तथा उसी को ही सार्थक मानता है। धर्मेश का मित्र अमित भी धर्म से प्रभावित तो है, किन्तु अमित कॉलेज की पढ़ाई करके धनार्जन करने लग गया तथा धर्म मार्ग छोड़ दिया है, धर्मेश धर्म से तो जुड़ा हुआ है, पर वह प्रारम्भ में तत्त्व की बात नहीं समझता, किन्तु धीरे-धीरे धर्म की सच्चाई तक पहुंच जाता है। घटनाक्रम में धर्म, धर्मगुरु भी सहायक बनते हैं, परन्तु उसके साथ कुछ घटनाक्रम इसतरह घटित होता है कि वह शिक्षण छोड़ देता है, पिता के अभाव में स्वयं घर के कार्यों में लगना पड़ता है, परन्तु जैसे-जैसे उसका शिक्षण शिविरों की शृंखला में जाना हुआ, वैसे ही अध्यात्म को सुनने-समझने में रुचि लेने लगा।

उसका मित्र अमित धंधे में इतना व्यस्त व मस्त हो गया कि वह धर्म को भूल ही गया। इन दोनों के बीच कई प्रकार के घटनाक्रम सामने आते हैं। सांसारिक जीवन का चित्रण, सांसारिक घटनाओं का समावेश आदि के साथ-साथ तात्त्विक परिवेश अधिक प्रभावशाली बनता है। उपन्यासकार ने उत्सुकता कौतूहल तथा नवीनता को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने वास्तविक जीवन की स्वाभाविकता

को रोचक बनाया है। उपन्यासकार ने कथावस्तु को उपस्थित करने के लिए छात्रों के माध्यम से ही वस्तुतत्त्व का विवेचन भी किया है।

पात्र चरित्र चित्रण — इस उपन्यास में दो प्रकार के पात्र हैं। नारी पात्र तथा पुरुष पात्र, पुरुषों में धर्मेश, अमित, जिनेश आदि प्रमुख हैं, स्त्री पात्रों में सुनैना, सुनंदा आदि प्रमुख हैं। धर्मेश का चरित्र धार्मिक है, जो निरन्तर अध्यात्म को महत्त्व देता है और अमित अध्यात्म से कोसों दूर व्यसनी, बेईमान और बदमाश भी हो गया था, जो विषयवासनाओं से युक्त था। नारी पात्रों में सुनैना दुर्भाग्य को प्राप्त होती है; परन्तु वह धर्म के सहारे पति के असामयिक वियोग को सहन करती है और फिर धर्ममार्ग का अनुसरण करने लगती है।

उद्देश्य कथन — इस उपन्यास का मूल उद्देश्य अध्यात्म पर बल देना है, जहाँ भी अवकाश मिला, उपन्यासकार ने कवियों के पद्य, विचारकों के चिंतन, संस्कृत के उद्धरण आदि भी दे दिए हैं। उपन्यासकार ने जीवतत्त्व से लेकर मोक्षतत्त्व की बात कही है और उन्होंने अध्यात्म ज्ञान को महत्त्वपूर्ण बतलाकर आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान से हटने की बात भी कही है, वे तत्त्वज्ञानपरक कथन करते हैं। तात्त्विक विषयों की चर्चा-वार्ता करना धर्मध्यान है, उसे धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपाय विचय, विपाकविचय तथा संस्थानविचय आदि का कथन किया है। एक सच्चे शिक्षक की तरह उपन्यासकार ने नैतिक मूल्यों की स्थापना को ही घटनाक्रम में रखा है, वे प्रत्येक परिस्थिति में शब्दों के माध्यम से या तथ्य कथन से अध्यात्म का उद्देश्य प्रतिपादन करते हैं।

कथोपकथन — उपन्यासकार ने पात्रों की वार्तालाप में कहीं छोटे, कहीं बड़े और कहीं विस्तृत प्रासंगिक घटनाओं का चित्र खींचने के लिए, वार्ता को अत्यन्त ही रोचक बना दिया। धर्मेश एवं अमित की वार्ता में कुछ ऐसे ही प्रसंग हैं।

‘भाई, इसमें मैंने गलत क्या कहा।’
धर्मेश ने कहा— तुम्हारे शेर के भावों से हमें क्या लेना—देना, वस्तुओं के हिसाब से ज्ञान नहीं, बल्कि अपनी इंद्रियज्ञान से ही वस्तुएं जानी जाती हैं।

देशकाल एवं वातावरण — आधुनिक-परिवेश को ध्यान में रखकर उपन्यासकार ने क्रिया, पूजा, भक्ति आदि के साथ-साथ पाश्चात्य वातावरण, चलचित्र, तात्कालिक वेशभूषा, ऐतिहासिक सदर्भ एवं कथाप्रवाह में स्वाभाविकता को महत्त्व दिया।

शैली — रतनचन्द भारिल्ल की इस उपन्यास शैली में आध्यात्मिकता, धार्मिकता, वर्णनात्मकता, विवेचनात्मकता, विवरणात्मकता एवं भावात्मकता सभी का समावेश है। इसमें घटनाप्रधान, चरित्र प्रधान और नाटकीय प्रसंग भी हैं। इसके मूल में धार्मिक तथा आध्यात्मिक चिंतन प्रत्येक स्थल पर है। इसमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं तात्त्विक चिंतन भी है।

उपसंहार — उपन्यासकार रतनचन्द भारिल्ल एक सुलझे हुए तत्त्व निरूपक हैं। उनकी आध्यात्मिक विवेचना में भी नवचेतना का जागरण है। वे अध्यात्म की गंगा को प्रवाहित करते हैं और उसी की यथार्थता पर बल देते हैं। वे किसी से बंधे हुए नहीं चलते, अपितु आत्मचिंतन व तत्त्वमंथन को किस तरह प्रस्तुत किया जाए, कैसे रखा जाए, उसका ही विवेचन करते हैं। वे प्रभावशाली, तत्त्वज्ञानपरक चित्रण प्रस्तुत करते हैं, ताकि व्यक्ति अपने जीवन की सार्थकता के साथ-साथ यह चिंतन कर सके कि मैं सहज पारिणामिक भाव स्वभाव हूँ। मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंदस्वभावी हूँ। मैं चैतन्यकला स्वरूप हूँ। मैं परम मंगलस्वरूप हूँ इत्यादि भावना से जुड़े हुए इस उपन्यास से सहजरूप में तत्त्वचिंतन प्राप्त हो जाता है।

उपन्यास साहित्य के झरोखे से प्रस्तुत उपन्यास

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल एक सफल उपन्यास लेखक हैं। इनके चिंतन में मौलिकता के साथ सरलता भी है, ये कठिन से कठिन विषय को अपनी सरल भाषा-शैली में इस तरह व्यक्त करते हैं कि कम पढ़े-लिखे लोगों को भी आसानी से समझ में आ जाती है। पाठक उससे यहां तक प्रभावित होता है कि अपने जीवन को उसी रूप में ढालने का प्रयत्न भी करने लगता है। उदाहरणार्थ—संस्कार, विदाई की वेला, इन भावों का फल क्या होगा? सुखी जीवन

1. सुश्री पिउ जैन, एम.एस.सी. अरविन्दनगर, उदयपुर

एवं नीव का पत्थर, जान रहा हूँ, देख रहा हूँ — ये ऐसी औपन्यासिक एवं कहानी कृतियाँ हैं, जिन्होंने सैकड़ों व्यक्तियों की लाइफ को परिवर्तित कर दिया है।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, परन्तु पण्डित रतनचन्द का साहित्य न केवल समाज का दर्पण है, वरन् दीपक भी है तथा मार्गदर्शक व प्रेरक भी है।

आधुनिक संदर्भों में हमें ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है, जिससे युवा पीढ़ी प्रभावित हो, जो युवा पीढ़ी को रुचिकर हो।

पण्डित रतनचन्द के साहित्य में वे सब विशेषताएँ हैं, जिनसे युवा पीढ़ी तो आकर्षित एवं प्रभावित होती हैं, प्रौढ़ और वृद्ध भी प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

कथानक के माध्यम से तत्वज्ञान भी पिलाया है। उक्त कृतियों में जीवों के अच्छे-बुरे भावों का तथा उनके फल में सुगति एवं दुर्गति होने का चित्रण कर जीवों को सत्कार्य करने एवं खोटे काम न करने की यथास्थान प्रेरणा भी दी है मानव जीवन की सफलता और सार्थकता का सुन्दर चित्रण भी किया है।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के उपन्यासों में नैतिकता

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर वह अनैतिक कार्यों की ओर भी यदा-कदा अग्रसर हो जाता है, परिणामस्वरूप उसमें सत्य, अहिंसा व अपरिग्रह आदि का हास होने लगता है। ऐसे वातावरण में नैतिक बातों का ज्ञान देना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

डॉ. हुकमचन्द जैन, विभागाध्यक्ष जैनविद्या एवं प्राकृतिक विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ने पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल के उपन्यासों को पढ़कर जो भाव व्यक्त किये हैं उन्हें यहाँ उन्हीं के शब्दों में व्यक्त करते हुए मुझे भारी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। वे लिखते हैं कि— "मैंने पण्डितजी के उपन्यासों का अध्ययन किया, जिनमें आपने अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, शील, तप, भावना, सहअस्तित्व, अचौर्य आदि तत्त्वों का बहुत ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, जो राष्ट्र एवं समाज के विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहे हैं।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त भी आपने अनेक रचनायें लिखी जो जनसाधारण पाठक के साथ शोधकर्ता के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुई।

आपकी रचनाओं की भाषा-शैली अत्यन्त रोचक एवं मार्मिक है। आपकी लगभग 27 मौलिक सारगर्भित रचनायें हैं।

आप अपनी वाणी एवं रचनाओं से जन-जन को उपकृत करते रहें। आपकी जितनी भी प्रशंसा करें, वह कम ही है। शुभकामनाओं के साथ —”

इस तरह एक नहीं, अनेक विद्वानों ने पण्डित भारिल्लजी के विषय में अपने-अपने महत्त्वपूर्ण भाव व्यक्त किए हैं, उनमें से यहां कुछ को ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

युवा जागरण हेतु दिशाबोधक उपन्यास : संस्कार

बासोकुण्ड वैशाली अहिंसा शोध संस्थान के निदेशक डॉ. श्री ऋषभचन्दजी जैन ने जो पण्डित रतनचन्दजी के संस्कार पर शोधपरक टिप्पणी लिखी है मैं (शोधकर्ता : जिनेन्द्र शास्त्री) उसे अक्षरशः देने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ अतः उनका आलेख उन्हीं के शब्दों में यहां प्रस्तुत है —

डॉ. ऋषभचन्द लिखते हैं कि— “जिनवाणी सेवक विद्वानों की शृंखला में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का नाम अग्रगण्य है। सरल स्वभाव, आकर्षक व्यक्तित्व, कुशल लेखक, आगमनिष्ठ विद्वता के धनी पण्डितजी विगत पांच दशकों से समाजसेवा में अनवरत संलग्न हैं। उनके सरस, सरल और सहज लेखन ने समाज को लगभग 27 तो मौलिक कृतियां दी हैं, अनुवाद एवं सम्पादित कृतियों को शामिल करें तो उन्होंने कुल 56 कृतियाँ समाज को दी हैं, जिनका स्वाध्याय कर आवाल वृद्ध करोड़ों लोगों ने ज्ञानवर्द्धन किया है तथा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा ली है। ऐसे व्यक्ति को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर सम्मानित करने का उपक्रम निःसंदेह स्तुत्य है। ‘विद्वान सर्वत्र पूज्यते’ की उक्ति के अनुसार हमारी संस्कृति में विद्वान पूजनीय होता है। विद्वान का सम्मान समाज की गरिमा को बढ़ाता है।

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल बुन्देलखण्ड की भूमि के ऐसे सपूत हैं, जिन्होंने कथाओं के माध्यम से भी समाज को जागृत करने का प्रयत्न किया है। समाज झकझोरने एवं कुछ करने के लिए प्रेरित करने में कथा साहित्य ही सशक्त माध्यम है। इसलिए पण्डितजी ने जैनधर्म के सात्त्विक सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुंचाने के निमित्त कथा का आश्रय लिया है।

यदि हमें अपनी युवा पीढ़ी को सात्त्विक बनाना है तो इसप्रकार के प्रयत्नों की ओर भी अधिक आवश्यकता होगी। नये-नये लेखकों को तैयार करके साहित्य की इस विधा के माध्यम से जैनधर्म-दर्शन के क्षेत्र का विस्तार करना ही होगा। तभी हम नई पीढ़ी में नव चेतना का विकास कर उसे आदर्श नागरिक बना पायेंगे।

समालोचक डॉ. ऋषभचंद आगे लिखते हैं कि, "प्रस्तुत आलेख में 'संस्कार' नामक रचना के परिप्रेक्ष्य में पण्डितजी के विचारों को रेखांकित करने का मेरा प्रयास है। यहाँ मैं उन्हीं के शब्दों में उनकी विचारभिव्यक्ति को प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसका मूल्यांकन पाठक स्वयं कर सकेंगे।

'संस्कार' में सर्वाधिक महत्त्व शिक्षा व्यवस्था को दिया गया है, क्योंकि व्यक्ति, समाज और देश का भविष्य तो शिक्षा की गुणवत्ता पर ही निर्भर है। आज पूरे देश में शिक्षा की चिंतनीय स्थिति बन गई है।"

पण्डितजी स्वयं भी एक आदर्श शिक्षक एवं प्रशासक हैं, इसलिए उन्होंने इस बिन्दु पर पूरी गंभीरता से विचार किया है। शिक्षक के दायित्व एवं योग्यता का दिग्दर्शन कराते हुए पण्डित भारिल्लजी कहते हैं कि -

"यदि एक इंजीनियर भूल करेगा तो कोई बड़ा अनर्थ होने वाला नहीं है, उसकी भूल से कुछ मकान, पुल या बांध ही ढहेंगे, एक डॉक्टर भूल करेगा तो भी कोई बड़ी हानि नहीं होगी। केवल थोड़े से बीमार ही परेशान होंगे, एक मैनेजर भूल करेगा तो कोई कल-कारखाना या मिल ही घाटे में जायेगा और कोई सी.ए. भूल करेगा तो थोड़ा-बहुत हिस्सा ही गड़बड़ायेगा; परन्तु यदि अध्यापक भूल करेगा तो पूरे राष्ट्र का ढांचा ही चरमरा जायेगा; क्योंकि अध्यापक भारत के भावी भाग्य विधाताओं के चरित्र का निर्माता है। कोमल मति बालकों में नैतिकता के

बीज बोने वाला है और अहिंसक आचरण तथा सदाचार के संस्कार देनेवाला उनका गुरु है। अतः उसे न केवल प्रतिभाशाली, बल्कि सदाचारी और नैतिक भी होना चाहिए।”

हमारे समाज के युवा वर्ग को व्यसनों के दल-दल में आकंट डूबता हुआ देखकर उसे उबारने के लिए यहां अनेक उपाय सुझाये गये हैं, इस संदर्भ में पण्डित रतनचन्दजी (पुस्तक के लेखक) के विचार देखिये—

वे लिखते हैं, “वस्तुतः बात यह है कि केवल आदर्शों और उपदेशों की भाषा से कभी कोई सुधर नहीं सकता। किसी भी व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाने के लिए पहले उसको अपने विश्वास में लेना और अपना विश्वास उसे देना आवश्यक होता है। उसे अपना पड़ता है, अपना बनाना पड़ता है। जब उसे यह विश्वास हो जाये कि यह व्यक्ति मेरा हृदय से हितैषी है और मात्र मेरे लिए ही अपना सर्वस्व समर्पण कर रहा है। तब फिर वह स्वतः उसके सामने आत्मसमर्पण कर देता है और उसकी प्रत्येक बात मानने को तैयार हो जाता है।” (संस्कार पुस्तक, पृष्ठ 76)

हमारे देश में विवाह एक पवित्र संस्कार के रूप में मान्य है। दहेज रूपी उपहार देने की पवित्र परम्परा भी उसी का एक अंग है, जिसका उद्देश्य भी अत्यन्त पवित्र है, किन्तु समाज के कर्णधारों ने उसे अत्यन्त घिनौना बना दिया है। इससे विवाह संस्कार की पवित्रता भी प्रभावित होने लगी है। इस संदर्भ में पण्डितजी का प्रासंगिक कथन देखिए.....

“वस्तुतः दहेज का परम्परागत रिवाज बुरा नहीं था। बल्कि यह एक अच्छी परम्परा थी। यह कभी किसी बुद्धिमान व्यक्ति की सूझ-बूझ का सुखद परिणाम रही होगी। पर आज तो इसका स्वरूप ही बदल गया है, विकृत हो गया है। यह पहले जितनी सुखद थी, आज उससे कहीं बहुत अधिक दुखद बन गई है। उस दुखद स्थिति के मूल कारणों को न देखकर कुछ लोग दहेज जैसी पवित्र परम्परा का ही विरोध करने लगे हैं। दहेज को ही कोसने लगे हैं। ऐसे लोग दहेज का सही स्वरूप, अर्थ व उसका मूल प्रयोजन नहीं जानते।

दहेज वस्तुतः कन्या के माता-पिता, भाई-भाभी, बन्धु-बान्धव, कुटुम्ब-परिवार और रिश्तेदारों द्वारा अपनी-अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार प्रेमपूर्वक सहर्ष दिया गया वह उपहार है, जिसे प्रदान कर वे प्रसन्न होते हैं, कृतार्थ होते हैं। इसमें परस्पर प्रेम और सहयोग की भावना भी निहित होती है।

इस परम्परा को प्रचलित करने के पीछे एक पवित्र उद्देश्य यह भी रहा होगा कि जिन लड़के-लड़कियों को परिवार और समाज के लोग वर-वधू के रूप में गृहस्थ जीवन में प्रवेश कराते हैं, उनकी प्रारम्भिक या प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने का उत्तरदायित्व भी तो उनके परिवार व समाज का है। अतः सभी घर-कुटुम्ब के लोग, रिश्तेदार, पंच और समाज के सब लोग मिलकर नेग-दस्तूरों के रूप में कुछ न कुछ दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं देकर एक नया घर बसाते हैं।” (संस्कार पुस्तक, पृष्ठ 167-168)

हमें अच्छे वातावरण से युक्त परिवार, ज्ञानार्जन एवं सदगुरुओं की कृपा से ही सुसंस्कार प्राप्त हो सकते हैं। सुसंस्कारों के मूल में पूर्वोपार्जित पुण्योदय की प्रमुख भूमिका होती है। इसे पण्डितजी ने जैन परम्परा के अन्य साधक आचार्यश्री के मुख से कहलवाया है। उन्हीं के शब्दों में आचार्यश्री का कथन देखिए -

“संस्कारों की तो बात ही निराली है। देखो न! चिड़ियों को ऐसे सुविधासम्पन्न और सभी तरह के सुरक्षा साधनों से युक्त घोंसला बनाने का प्रशिक्षण कौन देता है? मधुमक्खियों को फूलों का रस एकत्रित कर मधु बनाने और सुरक्षित रहने के लिए मोमयुक्त वातानुकूलित छत्ता बनाने का प्रशिक्षण कौन देता है? चींटियों को सामूहिक रूप से संगठित होकर अन्नकण इकट्ठा करने की शिक्षा कहां से मिलती है? पशुओं को जन्मते ही पानी में तैरना किसने सिखाया है? और न जाने ऐसे कितने विचारणीय प्रश्न हैं, जो हमारे पुनर्जन्म और पूर्व के संस्कारों को सिद्ध करते हैं (संस्कार पुस्तक, पृष्ठ 113)

सुखी होने का उपाय बतलाने के लिए पण्डितजी ने कहा है कि “पुण्योदय से प्राप्त संयोगों की अनुकूलता में जो व्यक्ति जितना हर्षित होता है, प्रसन्न होता है, पापोदयजनित प्रतिकूलताओं में उसे

उतना ही अधिक दुःख होता है, खेद होता है। वस्तुतः अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में तत्त्वज्ञान के बल से समभाव रखना, साम्यभाव से तटस्थ रहना ही सुखी होने का सच्चा उपाय है।" (संस्कार पुस्तक, पृष्ठ 150)

अर्थात् बिना समताभाव के संसार में सुखपूर्वक जीवनयापन संभव नहीं है, जो मनुष्य समता धारण करते हैं, वे इस लोक में तो सुख-शान्ति का अनुभव करते ही हैं, परलोक में भी सुखी होने का मार्ग प्रशस्त कर लेते हैं।

चिन्ता और चिन्तन को स्पष्ट करते हुए पण्डितजी ने लिखा है कि— "चिन्ता एक मानसिक विकृति का नाम है और चिन्तन है विशुद्ध तत्त्वविचार। चिन्ता अशान्ति और आकुलता की जननी है और चिन्तन है निराकुलता और शान्ति का स्रोत। चिन्तायें चेतन को जलाती हैं और चिन्तन-राग-द्वेष को, मन के विकारों को। चिन्ताओं के घेरे में आत्मा अनुपलब्ध रह जाता है और चिन्तन से होती है आत्मतत्त्व की उपलब्धि।" (संस्कार पुस्तक, पृष्ठ 43)

चिन्तन ध्यान की प्रक्रिया है, ध्यान आत्मा का किया जाता है। आत्मध्यान से ही आत्मोपलब्धि होती है। आत्मध्यान में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ समता-सर्वज्ञता आदि आत्मा के स्वभावों का ही चिन्तन होता है।

पण्डितजी ने धर्म को परिभाषित करते हुए कहा है..... "वस्तुतः धर्म तो अपना स्वभाव है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष-मोह, अज्ञान आदि आत्मा के स्वभाव के विपरीत भाव हैं, अतः ये धर्म नहीं, बल्कि अधर्म हैं। त्यागने योग्य जानकर इनका हेयरूप श्रद्धान करना तथा वीतरागता, सर्वज्ञता, समता, शान्ति, निराकुलता, दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के स्वभाव हैं, अतः ये सब आत्मा के धर्म हैं। इन्हें उपादेयरूप जानकर दोनों का यथार्थ श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है और यही वास्तविक धर्म है।" (संस्कार पुस्तक, पृष्ठ 224)

'संस्कार' के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल बहुआयामी बुद्धि सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान और समाज की नब्ज टटोलने में दक्षता प्राप्त समाजशास्त्री हैं। संस्कार के

माध्यम से वे पूरे समाज को संस्कारित करने की दिशा में चल पड़े हैं। इस रचना ने समाज के मानस को खूब प्रभावित किया है। शिक्षा के क्षेत्र में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर से हम अनभिज्ञ नहीं हैं। इसके स्नातक विद्वान समाज में जिनवाणी का प्रसार जोर-शोर से कर रहे हैं। लगभग स्थापना कालसे ही उक्त महाविद्यालय पण्डितजी के अनुशासन, प्रशासन और प्राचार्यत्व से गौरवान्वित हो रहा है। संस्कार में व्यसन, दहेज, अभक्ष्य, कुसंगति आदि के दुष्परिणामों का यथार्थ चित्रण मौजूद है। कथानक नवीन एवं सामयिक हैं। जैनधर्म दर्शन के प्रमुख एवं गंभीर सिद्धान्तों को यहां बातों ही बातों में कह दिया गया है। वाक्य-वाक्य में धार्मिकता और नैतिकता को देखा जा सकता है, अनेक वयोवृद्ध विद्वानों ने भी इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

आपकी अन्य मौलिक एवं चर्चित कृतियों में विदाई की बेला, इन भावों का फल क्या होगा, सुखी जीवन, गमोकार महामंत्र, सामान्य श्रावकाचार, हरिवंश कथा आदि को मनीषियों ने खूब सराहा है।

‘जैनपथप्रदर्शक’ के आप संस्थापक एवं आद्य सम्पादक हैं। इस पत्र के माध्यम से आपने पत्रकारिता को नयी दिशा दी है। ऐसे मूर्धन्य विद्वानों के चरणों में मेरा शत्-शत् नमन।

— रत्नदीप, अभिनन्दन ग्रन्थ खण्ड 2, पृष्ठ 49 से साभार।

प्रतिक्रियायें —: संस्कार : लोकप्रिय उपन्यास

यद्यपि पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल का संस्कार कृति के रूप में यह प्रथम प्रयास है; तथापि यह 1999 में लिखा गया प्रथम प्रयास भी अत्यन्त सफल रहा। संस्कार के दसम् संस्करण के प्रकाशकीय में ब्र. यशपालजी ने लिखा है कि — ‘हमें कल्पना भी नहीं थी इस कृति को इतनी जल्दी-जल्दी पुनः पुनः प्रकाशित करना पड़ेगा। आपको यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि इसका पांच हजार दो सौ प्रतियों का प्रथम संस्करण तीन माह की अति अल्प अवधि में ही समाप्त हो गया था। 5 हजार 200 का द्वितीय संस्करण भी 16 माह में ही समाप्त हो गया। इस कारण तृतीय संस्करण 10 हजार प्रतियों का प्रकाशित कराया गया। वह भी दो वर्ष में समाप्त हो गया।

फरवरी 95 में तथा दिसम्बर 96 में प्रकाशित 5-5 हजार के चतुर्थ, पंचम, षष्ठम् सप्तम, अष्टम व नवम संस्करण पक्की जिल्द में प्रकाशित किए गए। ये संस्करण भी 18-18 माह में समाप्त हो गये।

एक हजार का यह दसम् संस्करण आपके हाथों में प्रस्तुत करते हुए गौरवान्वित हैं। इसके सिवाय इस लोकप्रिय कृति के मराठी में दो संस्करण तथा गुजराती का भी एक संस्करण पाठकों के हाथों में पहुंच चुका है।

पाठकों, विद्वानों, समीक्षकों ने एवं पत्र-पत्रिकाओं ने भी इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जन सामान्य को पढ़ने की प्रेरणा के लिए कतिपय महत्त्वपूर्ण अभिमत पुस्तक के अंत में प्रकाशित हैं।

कृति की उत्कृष्टता व लोकप्रियता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

'संस्कार' नामक उपन्यास में ज्ञान, विज्ञान और सुदर्शन के सशक्त कथानकों द्वारा संस्कार रूप सागर को गागर में भरने का सफल प्रयत्न किया गया है।

बालकों के जीवन पर सुसंस्कारों का क्या/कैसा प्रभाव पड़ता है, इसे ज्ञान व विज्ञान के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है। आधुनिक शिक्षा संस्थानों का जीता-जागता चित्रण, अस्पतालों में डॉक्टरों द्वारा मरीजों की उपेक्षा, परिवार नियोजन की आवश्यकता, दहेज की वास्तविकता, अभक्ष्य पदार्थों का वास्तविक रूप, बालकों के प्रति माता-पिता की उपेक्षा का परिणाम, कुसंगति का फल आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का सजीव चित्रण इस उपन्यास कृति में उपलब्ध है।

विज्ञान, राजू, संजू, विद्या, सरला और सुनीता के जीवन में हुए नैतिक व धार्मिक परिवर्तन से न केवल उनका कल्याण हुआ है, किन्तु इससे समाज का भला भी हुआ है।

पुस्तक के अन्त में धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझाया गया है, जिसके पालन करने से इस लोक के साथ हमारा परलोक भी सुधर सकता है।

'संस्कार' कृति की भाषा सरल और शैली प्रांजल है। यह कृति बाल-वृद्ध और प्रौढ़ सबके लिए उपयोगी है।

— रत्नदीप ग्रन्थ से साभार।

अपूर्वकृति : विदाई की बेला

पण्डित भारिल्लजी ने हिन्दी साहित्य की उपन्यास शैली को माध्यम बनाकर एक से बढ़कर एक ऐसे छह उपन्यास लिखे हैं, उसमें विषयवस्तु भावना प्रधान होने के कारण आपकी 'विदाई की बेला' सर्वाधिक लोकप्रिय हुई है, क्योंकि इसमें आपने जिस मनोवैज्ञानिक पद्धति से सदासुखी और विवेकी के जीवन को संस्कारित किया है, वह अपूर्व व अनुकरणीय है।

'विदाई की बेला' उपन्यास आध्यात्मिक तत्त्वचर्चा और समाधि के स्वरूप से भरा हुआ है। लेखक के मतानुसार सकारात्मक प्रयासों से सदा सुखी और विवेकी के जीवन में अपूर्व धार्मिक परिवर्तन आया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने शेष जीवन को बड़े ही शान्त तरीके (समाधि की भावना) से जीना शुरू किया।

प्रस्तुत कृति में आपके विवेकी का समाधिमरण कराकर समाधि भावना को प्रायोगिक रूप देकर समाज का बहुत बड़ा उपकार किया है। इसे पढ़कर समाधि की प्रेरणा मिलती है।

कृति में यह भाव भी मुखर हुआ है कि 'धर्म परिभाषा नहीं प्रयोग है' अर्थात् जैन तत्त्वज्ञान जीवन जीने की कला का ही दूसरा नाम है।

इस प्रकार 'विदाई की बेला' सचमुच एक उद्देश्य परक उत्कृष्ट कृति है जो हमें जीवन जीने की कला का मार्गदर्शन तो देती ही है।

मरण भी दुःखद प्रसंग नहीं; बल्कि वह भी अनिवार्य होने से समताभाव पूर्वक प्राण त्यागने का विज्ञान है। अतः समताभाव से मरण का वरण करना ही समाधिमरण है। इस भाव को लेखक ने अच्छी तरह समझाया है। जो पुस्तक के 16वें अध्याय में दृष्टव्य है। जो पुस्तक के 16वें अध्याय में दृष्टव्य है। 'रत्नदीप' पृष्ठ- 5, अध्याय-4

उपन्यासत्रयी के रचनाकार : पण्डित भारिल्लजी

डडूका (राज.) निवासी श्री रितेश जैन शास्त्री, साहित्याचार्य लिखते हैं कि, "श्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने उपन्यासत्रयी की रचना केवल उपन्यास लेखन के लिए नहीं की, अपितु कथा शैली के माध्यम से जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को कथा में पिरोकर साहित्य के क्षेत्र में कथा साहित्य के महत्त्व को द्विगुणित कर दिया है।

उपन्यासत्रयी को जब औपन्यासिक तत्त्वों की कसौटी पर कसते हैं तो उस कसौटी पर वह शत-प्रतिशत खरे उतरते हैं। तीनों उपन्यासों की चाहे कथावस्तु हो, चाहे चरित्र चित्रण हो; संवाद योजना हो अथवा वातावरण की बात हो; भाषा शैली की बात हो अथवा उद्देश्य की बात हो; समस्त औपन्यासिक तत्त्वों का समावेश यथायोग्य किया गया है। यद्यपि उपन्यासकार का मूल प्रयोजन उपन्यास लेखन नहीं है, अपितु उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वीतरागी जैन तत्त्वज्ञान को काल्पनिक पात्रों के कथोपकथनों के माध्यम से प्रस्तुत करने से औपन्यासिक तत्त्व गौण नहीं हो पाये हैं।

1. संस्कार — यह पच्चीस अध्यायों एवं 250 पृष्ठों में सदाचार प्रेरक सशक्त कथानक है। मानव मात्र को संस्कारित करने में यह एक सफल उपन्यास है। प्रकृत उपन्यास में ज्ञान, विज्ञान, सुदर्शन, संजू और राजू जैसे अनेक पात्रों के विचित्र चरित्रों द्वारा युवा पीढ़ी को मार्गदर्शन दिया है, वह साहित्य के क्षेत्र में एक मिसाल है।

माता-पिता की आवश्यकता से अधिक लापरवाही या सावधानी कभी-कभी क्या गुल खिलाती है, यह संदेश हमें सेठ सिद्धोमल और डॉ. धर्मचन्द के चरित्रों में देखने को मिलता है।

मुंशी प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को झलकाती कथावस्तु का ताना-बाना घटनाक्रम और पात्रों से बखूबी बुना गया है। पात्र परिस्थितियों से नियंत्रित होते हैं। परिस्थितियाँ जहाँ जैसी बनी हैं, वहाँ चारित्र भी तदनुरूप अच्छा हो गया है।

'संस्कार' नामक इस कृति में सशक्त रूप से यह कहने का

प्रयास किया गया है कि संस्कारविहीन पीढ़ी स्वयं तो संकटग्रस्त है ही, परिवार और समाज के लिए भी घातक सिद्ध हो रही है, अतः वीतरागी तत्त्वज्ञान और संस्कारी समाज की सुरक्षा के लिए भावी पीढ़ी को सुसंस्कार देने की महती आवश्यकता है। यह कहानी किसी एक गांव की नहीं है, गांव-गांव की कहानी है।

इसमें जैनदर्शन का गंभीर तात्त्विक चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयास तो किया ही गया है; साथ ही साथ खान-पान की शुद्धि, अहिंसक आचरण, साम्प्रदायिक सदभाव और नैतिकता के प्रेरणादायक प्रसंग भी कथानक की सहज स्वाभाविक कथा-यात्रा के बीच-बीच में प्रस्फुटित होते गये हैं। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों की अक्षमता और शासन की लापरवाही के कारण जो धांधली चल रही है, अबोध बालकों के साथ जो खिलवाड़ हो रहा है; उस ओर ध्यानाकर्षण किया गया है। दहेज प्रथा और परिवार नियोजन जैसी ज्वलन्त सामयिक समस्याओं पर भी मौलिक एवं नया चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

वस्तुतः यह कथानक के लिए लिखा गया कथानक नहीं है, बल्कि कथानक के सहारे कल्पित पात्रों द्वारा जैनाचार और तत्त्वविचार को ही आगमसम्मत युक्तियों द्वारा आबाल-वृद्ध तक पहुंचाना ही उपन्यासकार का मूल उद्देश्य रहा है और वह इस प्रयोजन में सफल रहा है।

2. विदाई की वेला — पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की दूसरी औपन्यासिक कृति है 'विदाई की वेला'। सोलह अध्यायों एवं 120 पृष्ठों में इसका कथानक सम्यक् समाधि की ओर अग्रेषित है। इस उपन्यास का प्रारम्भ ऐसा लगता है मानो जयशंकर प्रसाद की कहानी का पठन कर रहे हों।

यद्यपि इस कृति में संन्यास एवं समाधि की चर्चा है, पर यह उस संन्यास व समाधि की बात है, जिसकी साधना-आराधना जीवन के उत्तरार्द्ध में या मृत्यु के समय नहीं, बल्कि जीवन के स्वर्णकाल में, घर-गृहस्थी में रहकर भी की जा सकती है और की जानी चाहिए। प्रकृत उपन्यास के वर्ण्य विषय को उपन्यासकार के शब्दों में ही —

“विदाई की बेला—

सुख दुख की, हर्ष विषाद की

एक ऐसी मिली—जुली, अनुभूति है

या वैचारिक संघर्ष की ऐसी मनःस्थिति है,

जिसकी केवल अनुभूति ही की जा सकती है, अभिव्यक्ति नहीं।”

जिसकी अभिव्यक्ति संभव नहीं है— ऐसे गूढ़ विषय को रोचक कथा शैली के माध्यम से अभिव्यक्त कर आम जन का उपकार ही किया है।

यद्यपि इस कृति में प्रवचन शैली की बहुलता है, तथापि कहीं औपन्यासिक तत्त्व नष्ट नहीं हुए। कथानक के अन्त तक जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है।

‘विदाई की बेला’ प्रौढ़ और वृद्ध व्यक्तियों के लिए तो वरदान रूप है ही, सामान्य पाठकों के लिए भी रोचक, ज्ञानवर्द्धक और अध्यात्म के अध्ययन की प्रेरणा देनेवाली कृति है।

3. इन भावों का फल क्या होगा — पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की तृतीय औपन्यासिक कृति ‘इन भावों का फल क्या होगा’ है। प्रस्तुत कृति 37 अध्यायों में एवं 224 पृष्ठों में निबद्ध है।

यह कृति ‘ध्यान’ को केन्द्रित करके लिखी गयी है। पात्रों के चरित्र—चित्रण तथा कथोपकथन का केन्द्रबिन्दु मुख्यरूप से ध्यान ही है। इसकी विषयवस्तु जहां पापभावों से सुरक्षा प्रदान करती है, वहीं नैतिक जीवन जीने और धर्मध्यान करने का भी मार्ग प्रशस्त करती है।

प्रस्तुत कृति ‘यथा नाम तथा गुण’ वाली कहावत को चरितार्थ करती हुई प्रतीत होती है। सुसुप्त चेतना को जाग्रत कर देनेवाली यह कथा—कृति नाम के अनुरूप ही विभिन्न पात्रों के चरित्रों द्वारा समस्त सांसारिक जीवों के वर्तमान में हो रहे आर्त—रौद्रध्यानों का एवं उनके दुःखद परिणामों का आभास कराते हुए उनसे बचने के उपायों का दिग्दर्शन इतने रोचक ढंग से कराती है कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रहते।

कृति के प्रारंभ में ‘आत्मकथ्य’ में स्वयं लेखक लिखते हैं कि—

“पहन रखा था हमने अब तक, एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व का चोगा;
इसी कारण अब तक, संसार में चतुर्गति का दुख भोगा;
इन्हीं भूल-भुलैयाँ में भटककर, खाते रहे धोखा ही धोखा;
हम भी नहीं समझ पाये कि इन भावों का फल क्या होगा?”

ध्यान के मूल चार भेद हैं— आर्त, रौद्र, धर्म एवं शुक्ल ध्यान। इनमें प्रारम्भ के दो ध्यान क्रमशः तिर्यंच एवं नरक गति के बंध के कारण हैं तथा धर्मध्यान स्वर्ग का और शुक्ल ध्यान मुक्ति का कारण है। प्रत्येक के चार-चार उत्तर भेद हैं। 1. आर्तध्यान (इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज, पीड़ा चिन्तन, निदान), 2. रौद्र ध्यान (हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी), 3. धर्मध्यान (आज्ञाविचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय — ये शुभभावरूप होते हैं), 4. शुक्लध्यान (एकत्व वितर्क, प्रथकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति, व्युपरत क्रिया निवर्तीनि)। अंत के दो शुक्ल ध्यान केवली के होते हैं।

इस गूढ़ एवं आत्मकल्याणकारी विषय को स्पष्ट करने में दिग्गजों के पसीने छूट जाते हैं, उसी विषय को इतनी सरल, सुबोध व सर्वग्राह्य भाषाशैली में प्रस्तुत कर विद्वान लेखक ने स्तुत्य प्रयास किया है।

इस प्रकार पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने एक साथ तीन उपन्यासों की रचना कर मात्र मनोरंजन ही नहीं, अपितु परमसत्य का उद्घाटन किया है। — रत्नद्वीप अ.2, पृष्ठ 57 से।

4. सुखीजीवन (उपन्यास) : समालोचनात्मक अध्ययन

पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल लोकप्रिय लेखक, सफल पत्रकार एवं उपन्यासकार भी हैं। आपकी कृति 'सुखी जीवन' एकदम ही सरल, सुबोध भाषा में है एवं उसमें कथानकों के माध्यम से जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों के साथ पारिवारिक समस्याओं का सफल समाधान भी सहज ही मिल जाता है।

इस पुस्तक में आपने वास्तुस्वार्तत्र्य, कर्ता-कर्म संबंध, द्रव्य-गुण-पर्याय, पांचसमवाय, पांचलब्धियां, ईश्वरकर्तृत्व आदि जीवनोपयोगी सिद्धान्तों को कथा के माध्यम से समझाया है। इसीप्रकार

विश्वव्यवस्था, सर्वज्ञता और समाधि की साधना आदि कल्याणकारी सिद्धान्तों को भी सरलरूप से समझाया है।

इस पुस्तक के कव्हर पृष्ठ का चित्र ही सम्पूर्ण पुस्तक का चित्रण कर रहा है। एक धर्मवृक्ष है, जिसकी जड़ें जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों की प्रतीक हैं। इन जड़ों के आश्रय से सुख, शान्ति, समता, समाधि आदि मधुर फल प्राप्त होते हैं। एक व्यक्ति इस धर्मवृक्ष की छाया में मधुर फल पाकर सुखी एवं प्रसन्न दिखाई दे रहा है।

सुखी जीवन कथानक का प्रसंग :-

सरला नाम की एक सीधी-साधी, किन्तु प्रतिभाशाली शिक्षित लड़की की शादी निजानन्द नामक गंभीर व्यक्तित्व के धनी तत्त्वरुचि वाले लड़के के साथ हो जाती है। सरला लौकिक दृष्टिकोण से एक कुशल गृहिणी, एक सेवाभावी अच्छी बहू, बच्चों में अच्छे संस्कार देने वाली एक शुभचिन्तक माँ भी है। एक जिम्मेदार अच्छी महिला होते हुए भी वह धार्मिक तत्त्वज्ञान से वंचित थी, इस बात का निजानन्द को भी अफसोस था। हालांकि वह धार्मिक क्रियाओं को पालनेवाली कट्टर महिला थी, फिर भी धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण, उसमें कर्तृत्व का अहं था और घर का सब कार्य करने पर भी कोई उसे धन्यवाद नहीं देता था। इसलिए वह दुखी एवं उदास रहती थी।

एक दिन कुछ महिलाओं ने सरला पर व्यंग्य कसा कि ऐसे तत्त्वाभ्यासी की पत्नी होते हुए भी वह तत्त्वज्ञान से शून्य है— यह कैसा 'दिया तले अंधेरा' है ? बस; यह बात सरला को चुभ गई और उसने तत्त्वज्ञान करने की ठानली।

उसके पति निजानन्दजी तो यह चाहते ही थे, उन्होंने उसे जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त पढ़ाना शुरू कर दिया।

सर्वप्रथम छह सामान्य गुणों के माध्यम से वास्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को समझाया। कर्ता-कर्म संबंध, सम्यक्त्व की पूर्व भूमिकारूप पांच लब्धियाँ, विश्वव्यवस्था आदि अनेक सिद्धान्तों को शास्त्रों के उद्धरण देकर समझाना शुरू किया। ऑटोमेटिक विश्वव्यवस्था एवं ईश्वर-अकर्तृत्व के स्वरूप को स्पष्ट समझाया। पांच समवाय, चार

अभाव का ज्ञान कराया। लौकिक और पारलौकिक जीवन को सुखी बनाने में तत्त्वज्ञान का कितना महत्त्वपूर्ण योगदान है ? इन सब रहस्यों को अब सरला समझने लगी। निजी अध्ययन एवं निजानन्द के प्रवचनों के माध्यम से सरला तत्त्वज्ञान में पारंगत हो गई।

वस्तुस्वरूप का विचार करने एवं स्वरूप समझने से अब सरला प्रसन्न रहने लगी, अब उसके कर्तृत्व बुद्धि का अहं जो समाप्त हो गया था। सरला और निजानन्द का दाम्पत्य जीवनरूपी बाग जिनवाणी के अमृत जल से सिंचित होकर महकने लगा था। इसप्रकार सरला ने समाधि एवं समाधिमरण का भी स्वरूप जानकर समाधिपूर्वक जीवन जीने का उद्देश्य बना लिया।

अचानक सरला को कैंसर हो गया, लेकिन तत्त्वज्ञान के बल से वह बिल्कुल घबरायी नहीं और कैंसर के सफल आपरेशन से मरते-मरते बच गई। अब उसने संकल्प कर लिया कि वह आत्मकल्याण और परोपकार के कार्यों के सिवाय और कुछ भी अनावश्यक कार्य नहीं करेगी। उसने युवक-युवतियों का संगठन बनाकर तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की गतिविधियां संचालित करने का निर्णय ले लिया, जिसकी सभी ने अनुमोदना एवं सराहना की।

इसप्रकार 'सुखी जीवन' कृति का अंत सुखद है।

'सुखी जीवन' में अनेक तथ्य, सिद्धान्त, उपदेश, मुहावरे, लोकोक्तियां एवं नीतिवाक्यों की भरमार है। लेखक महोदय ने एक छोटी-सी कथावस्तु में इतना सब कुछ समझा दिया, यह भी उल्लेखनीय बात है। इनमें से कुछ उल्लेखनीय बातें निम्न प्रकार हैं—

पृष्ठ 11— "संसार में जो आया है, उसे जाना तो पड़ता ही है; पर जाने के पहले यदि वह कुछ ऐसे काम करले, जिनसे स्वपर कल्याण हो सके तथा अपने स्वरूप को जान ले, पहचान ले, उसी में जम जाये, रम जाये, समा जाये तो उसका जीवन धन्य हो सकता है, सार्थक हो सकता है, सफल हो सकता है।"

पृष्ठ 12 — "काजल की कोठरी में कैंसौ ही सयानो जाये, एक दाग काजल का लागे पर लागे ही।"

पृष्ठ 29 - "माँ संतान की प्रथम पाठशाला होती है, क्योंकि सबसे पहले वही उन्हें नैतिकता का पाठ पढ़ाती है। एतदर्थ माँ का शिक्षित होना अत्यावश्यक है।"

पृष्ठ 36 - "अतः दूसरों के अच्छे-बुरे व्यवहार से तुम्हें प्रभावित नहीं होना चाहिए, अन्यथा तुम्हारा सुखी रहना या दुःखी होना तुम्हारे हाथ से चला जायेगा। फिर भी कोई भी व्यक्ति तुम्हें कुछ भी कहकर दुःखी कर देगा।"

पृष्ठ 49 - "जैनदर्शन का वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त ही इस मानसिक राजरोग से बचने का एकमात्र अमोघ उपाय है।"

पृष्ठ 53 - "इस जगत में जितने चेतन व अचेतन पदार्थ हैं, जीव-अजीव द्रव्य हैं, वे सब पूर्ण स्वतंत्र हैं, स्वावलम्बी हैं। उनका एक-एक समय का परिणाम भी पूर्ण स्वाधीन है।"

पृष्ठ 135 - "विधि का विधान अटल है, उसे कोई टाल नहीं सकता। जो घटना या कार्य जिस समय, जिसके निमित्त से, जिस रूप में होना है, वह उसी समय, उसी के निमित्त से, उसी रूप में होकर ही रहता है। उसे टालना तो दूर, आगे पीछे भी नहीं किया जा सकता; बदला भी नहीं जा सकता। क्षेत्र से क्षेत्रान्तर भी नहीं किया जा सकता।"

पृष्ठ 176 - "सरला, समाधि तो हमारा जीवन है। सुखी जीवन का नाम ही तो समाधि है, यह मृत्यु का संदेश नहीं है। ऐसा सुखी जीवन जीने की कला का ज्ञान और उसका अभ्यास तो जीवन के मध्याह्न में ही करना होगा, यौवन में ही करना होगा, तभी तो हमें अन्त समय में सुख, शान्ति व समता के फल प्राप्त हो सकेंगे।"

इसप्रकार अनेक तथ्यों तथा बीच-बीच में दिये हुए अनेक उदाहरण एवं सिद्धान्तों के माध्यम से 'सुखी जीवन' जीने की कला सिखाते हुए अन्त में पुनः प्रेरणा देते हैं कि- "आत्मकल्याण का काम तो इस दुनियादारी की खटपट में रहते हुए ही चटपट करना होगा। बालबच्चों की इस चैंचें में ही करना होगा। यदि इन बालबच्चों के

बड़े होने की, इनके कामधंधे में लगने की, इनके शादी-विवाह होने की प्रतीक्षा में अटके रहे तो जब तक इन झंझटों से निपटेंगे तब तक हमारा सारभूत जीवन ही निपट जायेगा। अतः 'शुभस्य शीघ्रं' की नीति के अनुसार तत्काल निज हित में लग जाना ही हितकर है।" इस बात के लिए राजा के घोड़े को पानी पिलानेवाला सशक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है।"

उसीप्रकार सरला के अस्पताल में भर्ती रहने के समय में भी सरला के व सुनीता के संवादों से अलग-अलग प्रेरणायें देते रहे हैं।

"देखो सरला! हम काम करें या न करें— किसी भी कारण दुनिया का कोई काम नहीं रुकता। देखो न! चार दिन से तुम अस्पताल में हो, फिर भी घर के काम हुए या नहीं। सबने भोजन किया या नहीं? थोड़ा उन्नीस हुआ होगा, थोड़ा देर-अबेर से हुआ होगा, पर हुआ तो है ही न? जब हम नहीं रहेंगे तब फिर क्या हम परलोक से आयेंगे, यहां का काम निपटाने। फिर भी सब होगा ही। तो क्यों न हम जीते जी अपने को अपने में ही समेट लें और अपने में ही जमने रमने का सम्यक् पुरुषार्थ कर लें?"

उसी प्रकार लेखक ने संवादों के माध्यम से क्रियाकाण्ड भी सर्वथा अनुपयोगी नहीं, इस बात को इसप्रकार समझाया—

"बिना पूजा-पाठ किए तो तुम पानी तक नहीं पीती, व्रत-उपवास भी तुम्हारे बराबर कोई नहीं करता, कुएं का पानी, अठपहरा घी, हाथ चक्की का आटा आदि। तुम ही बताओ इतना सब कुछ कौन करता है इस जमाने में? तुम व्रत, उपवास आदि तप त्याग तो करती ही हो, बस थोड़ा-सा तत्त्वज्ञान का अभ्यास भी हो जाये तो मणि-कंचन योग हो जायेगा।"

सरला की सरलता द्वारा कई बातें पाठकों के ज्ञान में लाने का महान कार्य लेखक ने किया है जैसे—

"अरे ! मंदिर में घर-बाहर की बातें करने से पापों का ऐसा वज्रलेप होता है, इसकी तो मुझे खबर ही नहीं थी। मैं तो अब तक

दुनियादारी की सारी बातें मंदिर में ही कर लिया करती थीं। अब भविष्य में धर्मस्थान में दुनियादारी की ऐसी कोई बात नहीं करूंगी, जिससे पापबंध हो।”

पारिवारिक जीवन कैसा होना चाहिए— “घर, परिवार की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता संभव है। जिस घर में कलह की ज्वाला उठती रहती हो, उसमें हम बिना झुलसे कैसे रह सकते हैं?”

आध्यात्मिक शिविर परिवार के लिए वरदान है—लेखक ने सास—बहू का एक प्रसंग प्रस्तुत करते हुए यह बताया है कि “आध्यात्मिक शिविर में जो प्रवचन आदि को श्रद्धा से सुनता है, समझता है, सीखता है, चिन्तन मनन करता है तो घर—परिवार में भी सुख—शान्ति बनी रहती है। बहू के द्वारा 5 किलो घी नाली में बह जाने पर भी सास—ससुर का मधुर व्यवहार जो हुआ — यह तत्त्वज्ञान का ही सुफल है। यह देखकर बहू भारी प्रसन्न हुई।” यह बताकर लेखक ने घर के वातावरण को सुखद बना दिया।

लेखक ने अपनी इस कृति में अनेक मुहावरे, परिभाषाओं एवं नीतिवाक्यों का भी बहुतायत से ऐसे प्रसंगों में प्रयोग किया है, जैसे—

— ढोल दूर से ही सुहावने लगते हैं।

— यह मेंढकों को तराजु पर तोलने जैसा कठिन काम है।

— सादा जीवन उच्च विचारमय जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है।

— चेरिटी बिगिन्स एट होम।

इतना ही नहीं लेखक महोदय ने कई मुख्य शास्त्रों के आधारों द्वारा सभी जैन सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है जैसे—

समयसार गाथा 103, समयसार कलश 4, 3, 200, प्रवचनसार गाथा 99, 100, 104 से 105 नियमसार गाथा 156, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 321, 322, 323, पद्मपुराण सर्ग 110, पंचास्तिकाय गाथा 60, 61, 62, 105।

लेखक की रोचक शैली प्रमुख जैन सिद्धान्तों को पाठकों के गले उतारती है। जैनदर्शन के वस्तुस्वातंत्र्य, कर्ता—कर्म संबंध,

द्रव्य-गुण-पर्याय, पाँच समवाय, पांच लब्धियां, ईश्वरकर्तृत्व, चार अभाव इनका प्रयोग जीवन को सुखी बनाने हेतु करने की प्रेरणा इस कृति से प्राप्त होती है।

इस कृति की प्रत्येक पंक्ति हृदय को छू लेने वाली है। मैंने सोचा कि इसमें आने वाली मुख्य बिन्दुओं को एकत्रित कर इसकी खूबियों का दिग्दर्शन करूँ, लेकिन यह समझ में नहीं आया कि क्या छोड़ूँ और क्या उद्धृत करूँ ? सभी कुछ समझने जैसा और ग्रहण करने जैसा है। यदि इस पुस्तक का विश्लेषण करने जायें तो दूसरी एक पुस्तक बन जायेगी। हर पंक्ति जीवन से संबंधित लगती है। पुस्तक के कवर पृष्ठ से लगाकर कथा के सुखद अन्त तक सभी कुछ शिक्षाप्रद है।

अतः मैं अब यह कहकर विराम लेता हूँ कि सभी साधर्मीजन इस पुस्तक को पढ़ें, मनन करें और कल्याणमार्ग की ओर अग्रसर हों। मेरी भावना है कि 'सुखी जीवन' हर सदगृहस्थ के पास हो और उसके माध्यम से जीवन भी सुखी हो।

आज के संदर्भ में जबकि व्यक्ति घर के कर्तृत्व के बोझ से दबा हुआ है— ऐसे में वस्तु स्वातंत्र्य का उद्घोष करता हुआ यह उपन्यास व्यक्ति को निर्भर करने तथा सुखी करने में निश्चय ही अमोघ औषधि का कार्य करेगा। इसके लिए सुखी जीवन का 22वाँ अध्याय दृष्टव्य है।

— लेखक के सम्मान में प्रकाशित रत्नदीप से साभार

नींव का पत्थर मेरी दृष्टि में.

पद्मश्री महामहोपाध्याय डॉ. सत्यव्रत शास्त्री, दिल्ली पूर्व कुलपति, श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी (उड़ीसा) लिखते हैं कि— "प्रिय पाठकगण, प्रस्तुत कृति में वह सब कुछ है, जिसकी ओर अब तक प्रायः लोगों का ध्यान ही नहीं गया, अन्यथा धर्माचरण करते हुए भी उसके फल में प्राप्त होनेवाला निराकुल सुख हाथ क्यों नहीं लगा? एतदर्थ जैनधर्म के मूल सिद्धान्त वस्तुस्वातंत्र्य को समझाने वाली इस कृति को आद्योपांत अवश्य पढ़ें।"

यहां वस्तु का अर्थ है जीव और पुद्गल आदि छह द्रव्य रूप विश्व। यह विश्व पूर्ण स्वतंत्र, स्वावलम्बी, स्वसंचालित है। इस विश्व की कर्ता-धर्ता कोई अन्य अव्यक्त शक्ति तो है ही नहीं, अन्य द्रव्य भी कर्ता, कर्म, करण आदि षट्कारक भी इसके कर्ता नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य के षट्कारक स्वतंत्र हैं। वस्तु स्वरूप की ऐसी यथार्थ श्रद्धा से पर कर्तृत्व के भार से निर्भार होते ही आत्मा स्वतः स्वरूप सन्मुख होकर मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी को प्राप्त कर लेता है।

इसी संदर्भ में प्रस्तुत कृति में एक ऐसे जीव की कहानी है, जिसे जो भी पाठक पढ़ेगा, उसे ऐसा प्रतीत होगा— अरे! यह तो मानो मेरी ही कहानी है।

इस कृति का प्रमुख पात्र (कथानायक) जीवराज है। उसका अनादिकालीन मित्र कर्मकिशोर है। जीवराज की धर्मपत्नी 'समतारानी' है। कर्मकिशोर की पत्नी का नाम वेदनी है। कर्मकिशोर का परिवार बड़ा है, उसकी बहिन 'मोहनी' है। मोहनी का बाह्य व्यक्तित्व आकर्षक है, पर वह जातीय स्वभाव और संस्कारों के कारण चरित्र से कमजोर है। साता-असाता 'कर्मकिशोर' की पुत्रियां हैं, जिनका स्वभाव ही जीवों से अठखेलियां करना, उनके सुख-दुःख में निमित्त बनना है। वे मोहनी से विशेष प्रभावित होती हैं। काम-क्रोध आदि कर्मकिशोर के पुत्र हैं।

जीवराज राजघराने से सम्बन्धित क्षत्रिय पुत्र है, उसकी धर्मपत्नी समतारानी सर्वगुण सम्पन्न है, विदुषी है, विवेकवती है, फिर भी जीवराज मोहनी पर आकर्षित हो जाता है। पुरुषों का परनारियों पर आकर्षित होना कोई अजूबा नहीं है। अधिकांश पुरुषों में यह कमजोरी होती है, परन्तु लोकापवाद, राजदण्ड, समाजनिन्दा आदि तथा परलोक बिगड़ने के भय से और यश-प्रतिष्ठा आदि के लोभ से वे जीवराज की भांति-दुःस्साहस नहीं कर पाते, परन्तु ताक-झाँक से बाज फिर भी नहीं आते। ताक-झाँक करना तो मानो उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

मोहनी चरित्र से कमजोर होते हुए भी स्वाभिमानी है, वायदा खिलाफी नहीं करती। वह जीवराज को स्वयं के प्रति अत्यन्त

आकर्षित देखकर नारी—सुलभ कमजोरी के कारण मात्र जीवराज की ही उपपत्नी बनकर रह जाती है।

जीवराज मोहनी के प्रति अति आसक्ति रूप पाप—परिणाम के फलस्वरूप कुछ ही दिनों में दरिद्र हो जाता है, मूर्छितावस्था और स्वप्न में अपनी प्रथम पत्नी समता रानी को भी कभी—कभी याद करने लगता है, इस कारण मोहनी उसकी उपेक्षा करने लगती है।

यह नारी मनोविज्ञान है कि जिस तरह एक म्यान में दो तलवारें नहीं समातीं, उसीप्रकार जीवराज के हृदय में दो नारियों का रहना संभव नहीं था। इस कारण मोहनी की जीवराज के प्रति उपेक्षा होना स्वाभाविक ही था, मोहनी ने भी अपने हृदय सिंहासन पर कभी एक साथ दो पुरुषों को स्थान नहीं दिया।

जब समतारानी को पता चलता है कि उसके पति जीवराज अब कहीं के नहीं रहे। जिस मोहनी से जीवराज ने नाता जोड़ा था, अब उस मोहनी ने उनसे मुंह मोड़ लिया है तो समतारानी जीवराज की खोज—खबर लेती है।

इस तरह जीवराज के जीवन में कैसे—कैसे उतार—चढ़ाव आते हैं, वह अन्ततः किस तरह मोक्षमहल के नींव के पत्थर का शिलान्यास करता है, मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी तक वह कैसे पहुंचता है। वह नींव का पत्थर है क्या? वह आधारशिला कैसी है? जिसके आधार पर पूरा मोक्षमहल खड़ा होता है, मोक्षमहल की शोभा बढ़ाने वाले अहिंसा—अपरिग्रह के कंगूरों का निर्माण कैसे होता है? आदि को विस्तृत जानने के लिए पाठकों को यह पुस्तक आद्योपान्त पठनीय है।

यह 'नींव का पत्थर' किसी राजमन्दिर, लक्ष्मीमन्दिर, मराठा मन्दिर की नींव का पत्थर नहीं, बल्कि उस मोक्षमहल के नींव का पत्थर है, जिसमें वास होने पर अनन्तकाल तक अनन्तसुख प्राप्त होता है।

इस अमूल्य कृति के लेखन हेतु लेखक पण्डित श्री रतनचन्द्र भारिल्ल को कोटिशः बधाई।

इस कृति से आपको ऐसा तत्त्वज्ञान मिलेगा, जिसके रहस्यों से अब तक आप पूरी तरह परिचित नहीं हैं। जो इसे पढ़ना प्रारम्भ करेगा, वह इसे पूरा पढ़े बिना नहीं रह सकेगा, क्योंकि कृति का कथा प्रवाह सहज, सरल एवं आकर्षक है।”

सुखी जीवन के नारी पात्र

सरला, सुनीता, अनीता और विनीता का सरल व्यक्तित्व

सरला ने बचपन में गुरुमुख से सुना था कि -

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।

रसररी आवत-जात तें, सिल पर परत निशान।।

तभी से उसे लगा कि.... “जब विद्या का सतत् अभ्यास करने से अल्पबुद्धि वाले व्यक्ति भी विद्वान बन जाते हैं, तो मैं ऐसी जड़मति भी नहीं हूँ जो कि अभ्यास करूँ और सफलता न मिले। अतः मैं प्रयत्न करूँगी और सफल होकर रहूँगी। निजानन्द का मार्गदर्शन पाकर सरला ने ऐसा तत्त्वाभ्यास किया कि उससे उसने सभी सहेलियों को पीछे छोड़ दिया।

यद्यपि सरला कैंसर जैसे प्राणघातक रोग से पीड़ित हो गई थी, तो भी उसने हिम्मत नहीं हारी, वह निराश और दुःखी भी नहीं हुई, उसने तत्त्वाभ्यास के बल पर स्वयं को संभाल लिया और अन्ततोगत्वा वह स्वस्थ भी हो गई।

सुनीता, विनीता और अनीता भी निजानन्द के सम्पर्क में रहने से अच्छी तत्त्वाभ्यासी हो गई थीं, अतः वे भी सदैव समताभाव से अपने जीवन को सफल कर रही थीं, उन्हें विश्वास था कि -

जाकरि जैसे जाहि समय में, जो होतव जा द्वार।

सो बनिहे टरहै कुछ नाहीं, कर लीनो निरधार।।

हमको कछु भय ना रे जान लियो संसार।।

सरला बीमारी में भी अर्द्ध निद्रा में उस घोड़े की घटना को याद कर रही थी, जो प्यासा था और रहट के चलने से विचक कर पीछे

हट रहा था। तब राजा साहब ने रेंहट वाले से कहा, "रेंहट बन्द करो।" रेंहट बंद होते ही पानी बंद हो गया। तब राजा सा. ने पुनः कहा— रेंहट चालू करो। रेंहट चालू होते ही 'चें—चें—पें—पें फिर चालू हो गई तब कृषक ने कहा कि "यदि घोड़े को पानी पीना है और राजा साहब को पानी पिलाना है तो इसी 'चें चें पें पें' की आवाज में ही पानी पिलाना होगा, अन्यथा घोड़ा प्यासा ही रह जायेगा; क्योंकि जब रेंहट बन्द होगा तो पानी आना भी बन्द हो जायेगा। इसी तरह यदि आत्मा का कल्याण करना है तो बाल—बच्चों की इसी स्थिति में करना होगा। जब तक बालबच्चे बड़े होंगे। आजीविका से लगेगे तब तक तू बूढ़ा हो जायेगा, इन्द्रियां शिथिल हो जायेंगी तब क्या करेगा? जब घास भी नहीं काट पायेगा तब कर्म कैसे काटेगा? अतः कर्म काटने का उपाय अभी इसी हालत में करना होगा।

किसी कवि ने कहा भी है—

काल करंता आज कर, आज करंता अब।

पल में प्रलय होयगी, बहुरि करेगा कब॥

इस तरह सोचते—सोचते सरला ध्यान मग्न हो गई, सुनीता, विनीता और अनीता ने भी सरला का अनुकरण किया।

वस्तुतः सरला, सुनीता, विनीता और अनीता— ये चारों ही नारियां धर्मात्मा तो थीं ही, स्वभाव से भी सरल थीं, परिश्रमशील भी थीं।

नारी जाति पुरुषों की अपेक्षा स्वभावतः ही अधिक सेवाभावी होती हैं, तभी तो उन्हें सन्तान के पालन—पोषण एवं लालन—पालन की जिम्मेदारी प्रकृति से ही प्राप्त है।

सुखी जीवन उपन्यास में सरला कैंसर की भयंकर बीमारी से पीड़ित होने पर भी धैर्यशील है, गंभीर है और अपने कर्तव्य के प्रति सदैव सजग रहती है। नारी की प्रशंसा में संस्कृत साहित्य में यह सूक्ति प्रसिद्ध है कि—

“यत्र नार्यस्तु यजन्ते, रमन्ते तत्र देवता”

अर्थ — जहां नारी का सम्मान होता है, वहां देवताओं का निवास होता है।

पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल के साहित्य की पृष्ठभूमि

यद्यपि पण्डित रतनचन्द भारिल्ल ने अपने साहित्य को विविध विधाओं में सृजित किया है, परन्तु उनका मूल प्रयोजन तो धर्म व अध्यात्म को पाठकों तक पहुंचाना है, एतदर्थ उन्होंने सरल भाषा-शैली एवं विविध विधाओं को चुना है। ये यह अच्छी तरह जानते हैं कि आज के इस मनोरंजन प्रधान युग में यदि हमें तत्त्व की बात भी सामान्य पाठकों तक पहुंचानी है तो भाषा-शैली पाठकों की रुचि के अनुरूप अपनानी होगी। आज के युग में संस्कृतनिष्ठ भाषा शैली में तत्त्व की बातें नहीं चल पायेंगी।

यह सब सोचकर विविध विधाओं के माध्यम से लेखक ने तत्त्वज्ञान प्रस्तुत किया है और इस भाषा में उन्होंने सफलता भी अर्जित की है।

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के उपन्यास, कहानियां और काव्य तथा निबन्ध खूब पढ़े जाते हैं। तभी तो अल्पकाल में ही उनका प्रचुर साहित्य पाठकों तक पहुंच सका है। उनके लगभग सभी (27) मौलिक रचनायें लाखों की संख्या में प्रकाशित होकर बिक्री का रिकार्ड तोड़ चुकी हैं। अनेक पुस्तकें तो तीन-तीन, चार-चार भाषाओं में अनूदित होकर 10-10 संस्करणों में छप चुकीं हैं।

उक्त 27 मौलिक कृतियों के अलावा उनके द्वारा गुजराती भाषा से हिन्दी में अनूदित एवं सम्पादित साहित्य भी प्रचुर मात्रा में है। 'प्रवचनरत्नाकर' के नाम से गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी के गुजराती भाषा में हुए समयसार के प्रवचनों का हिन्दी में अनुवाद भी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने ही किया है जो लगभग 6,000 पृष्ठों में 11 भागों में प्रकाशित है। इसके अलावा सम्यग्दर्शन प्रवचन, समाधिशतक प्रवचन, भक्तामर प्रवचन, पदार्थ-विज्ञान, गुणस्थानविवेचन, गागर में सागर प्रवचन आदि का भी अनुवाद तथा सम्पादन पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल ने किया है।

कहानी : समालोचनात्मक अध्ययन

डॉ. संजय कुमार जैन प्रवक्ता, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दौसा (राज.) लिखते हैं कि - "जीवन के एक पहलू को पूरी सिद्धत के साथ प्रस्तुत करने की दृष्टि से कहानी सबसे सशक्त विधा है। कहानी में भले ही एक साथ बहुरंगी सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति संभव न हो, पर कहानी में जितना संभव होता है, वह अपनी नई भाव सम्पदा का सृजन करती है।

कहानी की इसी सोदेश्यता को आधार बनाकर हिन्दी साहित्य में ऐसी अनेक धार्मिक एवं सामाजिक कहानियां लिखी गईं, जिनमें समाज में फैली अनेक बुराइयों पर तो सशक्त प्रहार किया गया; किन्तु व्यक्ति की सोच पर प्रहार करने वाली कहानियां बहुत कम रची गईं। जैन साहित्य में तो ऐसी कहानियों का अभाव सा ही रहा है।

पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल द्वारा "जान रहा हूँ देख रहा हूँ" यह कथा संग्रह इस दृष्टि से बिल्कुल नया प्रयोग है।

पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल इस कथा संग्रह की रचना से पूर्व लगभग आधा दर्जन सोदेश उपन्यासों की रचना कर चुके हैं, अतः अब वे उस इंजीनियर की भांति हो गए हैं, जिसे यह बहुत अच्छी तरह पता है कि बिगड़ी हुई मशीन में हथौड़ा कहां मारना है, ताकि वह ठीक हो जाए। वे अपनी कहानियों के माध्यम से किसी सामाजिक बुराई का चित्रण नहीं करते हैं, बल्कि व्यक्ति की सोच के बुरे पक्ष पर प्रहार करते हैं, ताकि उसकी सोच ठीक हो जाए।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल की लेखनी से निसृत इस कथा संग्रह में एक कहानी पौराणिक है, शेष कहानियां उनके जीवन के अनुभव के छोटे-छोटे प्रयोग हैं, सभी कहानियां आध्यात्मिकता से सराबोर हैं।

संकलन की प्रथम कहानी 'जान रहा हूँ, देख रहा हूँ' में समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार का मूल विषय है। कहानी में आषाढ़ मास की अष्टान्हिका में किन्हीं तत्परसिक पण्डितजी का व्याख्यान चल रहा है, जिसमें वे आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव को

समझा रहे हैं। सभी श्रोता उनकी बातों को ध्यान से सुनकर अध्यात्म की मस्ती में झूम रहे हैं; किन्तु एक ब्रह्मचारीजी को उनका ज्ञाता-दृष्टापन का कथन नहीं सुहाया अतः वे दोपहर के अपने व्याख्यान में आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव की मखौल उड़ाते हैं, जिसे श्रोता बने बैठे पण्डितजी सहन नहीं कर सके, अतः प्रवचन के अंत में ब्रह्मचारीजी की आज्ञा से पण्डितजी ने ब्रह्मचारी के कथ्य विषय को विनम्र भाषा में स्पष्ट किया। परिणामस्वरूप पण्डितजी की बात ब्रह्मचारीजी को समझ में तो आ ही गई, उनका हृदय भी परिवर्तित हो गया।

हृदय परिवर्तन के फार्मूले पर आधारित यह कहानी जहाँ एक ओर आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव को सिद्ध करती है, वहीं दूसरी ओर धनार्जन में सतत् लगे प्राणियों को यह उद्बोधन भी देती है कि 'धन पुण्योदय से प्राप्त होता है, अकेले पुरुषार्थ से नहीं। कहानी के माध्यम से दूसरी बात, जो परोक्ष रूप से निकलती है वह यह कि तत्त्व की सही समझ के अभाव में ब्रह्मचर्य आदि व्रत भी अधूरे हैं।

संकलन की दूसरी कहानी 'मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं' बुद्धिसेन और विद्याधर नामक दो मित्रों की कहानी है। दोनों ही बाल सखा हैं; किन्तु पहला गांव में रहकर केवल साक्षर होने पर भी सहज बुद्धि से जितनी तात्त्विक जानकारी कर लेता है, दूसरा पढ़ा-लिखा पेशे से वकील होने पर भी उन सब बातों से अपरिचित है। बुद्धिसेन अपनी सामान्य स्थिति में भी सुखी है और विद्याधर समृद्धि के बावजूद दुखी है। बुद्धिसेन का अनपढ़ होते हुए भी गांव में मान सम्मान है, वह गांव का सरपंच है। विद्याधर वकील होते हुए उस सम्मान का अधिकारी न हो सका। आखिर क्यों? यह प्रश्न विद्याधर को बुद्धिसेन के करीब लाता है। आपस के संवाद से विद्याधर यह समझ जाता है कि बुद्धिसेन, बुद्धिमान क्यों है? और विद्याधर विद्या को धारण करता हुआ भी तत्त्वज्ञान से वंचित क्यों है? लिहाजा विद्याधर नियमित स्वाध्याय का संकल्प कर लेता है।

कहानी का विचार पक्ष कहानी के हृदय पर हावी रहता है। कहानी में बीच-बीच में जो सूक्ति एवं सिद्धान्त वाक्य आए हैं, वे कहानी को समृद्ध करते हैं, जैसे— "जनहित की भावना से जनमत स्वतः ही अपने पक्ष में आ ही जाता है।" "ज्ञेय पदार्थों के अनुसार

तत्त्वज्ञान नहीं होता, बल्कि ज्ञान की पर्याय की तत्समय की योग्यता के अनुसार ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के विषय बनते हैं।”

कहानी में निहित यह संदेश कि “जीवन में बदलाव किसी भी क्षण हो सकता है। यदि व्यक्ति चाहे तो बदलाव के लिए उम्र बाधक नहीं होती।” विद्याधर जीवनभर अनाप-शनाप धन एकत्रित करने के लिए प्रयत्न करता रहा। कभी धर्म के बारे में सोचा भी नहीं; किन्तु जैसे ही बुद्धिसेन का सम्पर्क हुआ, उसके जीवन में नया बदलाव आ जाता है।

संकलन की तीसरी कहानी ‘पूजन और प्रवचन’ मुख्यतः इस बिन्दु पर केन्द्रित है कि ‘यद्यपि पूजन और प्रवचन दोनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है; किन्तु दोनों में से अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है?’

कथाकार ने मुनिश्री के माध्यम से यह समझाने का प्रयास किया है कि पूजन से प्रवचन का सुनना अधिक महत्त्वपूर्ण है।”

कथा का आरम्भ जिनमन्दिर में पर्यूषण पर्व के माहौल से होता है। जहां लोग पूजन तो खूब उत्साह से घंटों करते हैं; किन्तु उनके पास प्रवचन सुनने का समय नहीं होता। यहां भी ऐसा ही हो रहा था। नगर में चातुर्मास कर रहे मुनिसंघ के आचार्यश्री को यह प्रवृत्ति रास नहीं आई, लिहाजा वे पूजन के मध्य में प्रवचन करने की घोषणा करवाते हैं। प्रवचन में आचार्यश्री एक बुढ़िया की कथा के माध्यम से यह समझाते हैं कि ‘भगवान को अपनी भक्तिभावना तथा दुःखद स्थिति सुनाना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि भगवान की बात सुनना उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिनवाणी के माध्यम से भगवान भक्त से क्या कह रहे हैं? यह सुनना अति आवश्यक है।

कथाकार ने कहा है कि “भगवान से अपनी कहो कम, उनकी सुनो अधिक; क्योंकि हम जो कहेंगे, वह सब तो सर्वज्ञ होने से भगवान पहले से ही जानते हैं और जो वे कहेंगे, वह सब हमारे लिए नया-नया ही होगा।”

दरअसल कथाकार दोनों की तुलना करते हुए जनसामान्य की एक सामान्य प्रवृत्ति की ओर इंगित कर रहे हैं। वे यह बताना चाहते हैं कि यह प्रवृत्ति इसलिए बढ़ी है, क्योंकि पूजन करके हमारे अहं को तुष्टि मिलती है कि ‘मैंने कुछ किया’ जबकि इसके विपरीत प्रवचन सुनने में इस प्रकार के किसी अहं की तुष्टि नहीं होती है।

कहानी के अंत में मुनिश्री के रहस्योद्घाटन से कहानी का समापन होता है।

संकलन की चौथी कहानी 'पहले मुनि या मुनीम' है। कहानी का शीर्षक ही एक रहस्य की ओर इंगित करता है; क्योंकि दोनों में कोई परस्पर अन्तःसम्बन्ध दिखाई नहीं देता है। अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि 'शीर्षक यह क्यों?' दूसरे, मजेदार बात यह भी है कि कहानी का कोई भी पात्र मुनि या मुनीम नहीं है। कहानी का एक पात्र पण्डित पीताम्बर शास्त्री है तो दूसरी पात्रा आर्यिका माताजी हैं।

पीताम्बर शास्त्री स्थानीय विद्वान हैं, प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में उनकी समझ गहरा है, लेकिन द्रव्यानुयोग और करणानुयोग में अधिक गति नहीं है। आर्यिका संघ की प्रमुख माताजी अध्यात्म रसिक हैं, अतः उन्होंने अपने उद्बोधन में पण्डितजी को सलाह दी कि 'पण्डितजी! मुनि बनने से पहले मुनीम बनना अनिवार्य है' बाद में मुनीम शब्द का रहस्योद्घाटन करते हुए बताया कि मुक्तिमार्ग में मुनीम वह है जो तत्त्वों का लेखा-जोखा रखता है।

इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह कहानी संकलन की सबसे छोटी कहानी होते हुए भी मार्मिकता में उतनी ही अधिक संवेदनशील है।

इस कथा संग्रह से पूर्व लेखक ने जो लगभग आधा दर्जन उपन्यास लिखे, उनमें मुख्य उद्बोधक कोई न कोई विद्वान रहा है, जबकि इन कहानियों में उद्बोधक कोई न कोई सन्त है। उद्बोधक पात्रों के इस परिवर्तन में लेखक की सोच में आया परिवर्तन लक्षित होता है। यह लेखक की सकारात्मक कल्पना है कि काश! ऐसा हो कि सभी संत अध्यात्म के रसिक हो जाएं तो समाज में परिवर्तन लाने का जो काम विद्वानों की अधिक मेहनत के बावजूद कम परिलक्षित होता है, वह समाज में संतों के प्रति अधिक श्रद्धा-भक्ति होने के कारण संतों से अधिक सम्पन्न हो सकता है।

संकलन के पांचवीं कथा 'मान से मुक्ति की ओर' है। यह कहानी दिखने में जरूर छोटी है, लेकिन व्यक्ति के जीवन में आने वाले विभिन्न परिवर्तनों को एक साथ एक ही पटल पर दिखाती है। सम्पदा का

आगमन मनुष्य के जीवन में एक साथ दो परिवर्तन लाता है, एक तो प्रतिष्ठा में वृद्धि करता है। दूसरे, अभिमान से युक्त भी कर देता है।

कहानी के नायक सेठ जिनचन्द के साथ भी यही हुआ, धन के अभाव में उनकी गाँव में कोई इज्जत न थी। धन आने पर उनकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये; पर साथ ही अहंकार भी आ गया। उनकी समाज से सम्मान पाने की अपेक्षाएं भी बढ़ गईं। लेकिन पुण्योदय भी क्षणिक ही होता है, कुछ ही दिनों में पापोदय से बालक के अपहरण के साथ ही सेठ की सारी सम्पत्ति चली गयी है, साथ ही प्रतिष्ठा और अहंकार भी।

कहानी में सेठ जिनचन्द का चरित्र स्वयं लेखकीय कल्पना है और इसे जिस प्रकार से उस चरित्र में पैठकर लेखक ने जो गढ़ा है, वह सामान्यतः किसी भी श्रेष्ठी के जीवन और उसकी सोच का नमूना हो सकता है। इस चरित्र को पढ़कर पाठक अपनी सोच में बदलाव ला सकता है।

सेठ जिनचन्द ने अपनी मान-बड़ाई के लिए जिन घटनाओं का जिक्र किया, उन घटनाओं से श्रेष्ठिवर्ग के मन में चलने वाली सोच बहुत स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होती है। हमारा श्रेष्ठिवर्ग अपने मान की पुष्टि हेतु पद की प्राप्ति में चाहे कितनी ही धनराशि क्यों न खर्च कर दे; किन्तु धार्मिक कार्यों में धन राशि खर्च करने में जितनी आना-कानी करता है, वह किसी से छिपी नहीं है। दूसरे, उनके द्वारा बनाए गए सहायतार्थ ट्रस्ट भी उनके निजी कार्यों के पोषण के लिए ही अधिक होते हैं, दूसरों की सहायता के लिए कम।

इस कहानी में लेखक ने श्रेष्ठि वर्ग पर अपनी निगाह तीखी तो रखी ही है, साथ ही इस वर्ग को प्रश्रय देने वालों को भी नहीं बख्शा है।

छठी कहानी 'स्वर्ग वासहू नीकौ नांही' में सेठ मनमोहन के प्रारंभिक जीवन में पुण्योदय से धन, यश, भोग, पुत्र, पत्नी आदि सभी का संयोग है और धीरे-धीरे सभी अनुकूलतायें प्रतिकूलता में परिवर्तित हो जाती हैं।

कहानी का कथ्य इसके शीर्षक में ही निहित है कि यदि पुण्य के उदय से स्वर्ग के समान भोग सामग्री प्राप्त हो तो वह भी अच्छी नहीं है; क्योंकि एक तो सभी संयोग क्षणिक हैं। दूसरे, संयोग और

वियोग पुण्य-पाप के फल हैं, पुण्य का उदय होगा तो सहज ही अनुकूल संयोगों की प्राप्ति होगी और पापोदय के साथ ही वियोग घटित हो जाएगा। तीसरे, पुण्योदय से प्राप्त सामग्री का रुचिपूर्वक भोग अंततः पाप का ही बंध करता है। इसीलिए लेखक ने आगम के साक्ष्य से अभिधा और लक्षणा दोनों ही दृष्टियों से 'स्वर्गवास हू नीकौ नाँही' शीर्षक को सत्य सिद्ध किया है।

'ऐसे क्या पाप किए' कहानी का प्रमुख पात्र ऐसा है कि सामान्य अर्थों में जिसे धार्मिक कहा जा सकता है; क्योंकि धर्म के नाम पर वह बहुत कुछ करता रहता है। लेकिन ऐसा धार्मिक होते हुए भी उसके जीवन की कठिनाइयां कम होती नजर नहीं आती हैं। इस कारण उसकी जुबान से निकलता है कि 'ऐसे क्या पाप किए।'

लक्ष्मीनन्दन, जो कहानी का नायक है, वह स्वयं रोगी है, युवा पुत्र का वियोग हो गया, पत्नि का स्वभाव कलह प्रिय है और ऊपर से चार बेटियों का बोझ है— ये सब संकट उसके जीवन की परछाई है। ऐसे में वह कथाकार से पूछता है कि 'मैंने ऐसे क्या पाप किए, जिनका इस रूप में मुझे फल प्राप्त हुआ। कथा के अंत में लेखक के द्वारा पात्र को यह समझा दिया जाता है कि उसने 'ऐसे क्या पाप किए'।

दरअसल, यहां लेखक लक्ष्मीनन्दन के माध्यम से आम आदमी को पाप का सही स्वरूप समझाना चाहता है।

'यदि स्वर्ग-नरक नहीं हुए तो' कहानी द्वारा लेखक पाठकों को सन्मार्ग दिखाना चाहता है।

प्रायः यह कहा जाता है कि पुण्य के फल में स्वर्ग की सुगति और पाप के फल में नरक आदि कुगतियों की प्राप्ति होती है। इस धारणा के कारण आम आदमी जीवन की तमाम व्यवस्तताओं के रहते पुण्योपार्जन के लिए समय निकाल ही लेता है। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो इस तथ्य पर कतई विश्वास नहीं करते हैं, और भोग-भागने में इतने मस्त रहते हैं कि शुभ कार्य का उनके जीवन में लेश भी नहीं होता।

आनंदपुर गांव के दो परिवारों की यह छोटी कथा 'स्वर्ग-नरक नहीं हुए तो' के विश्वास और अविश्वास पर झूलती है। यहां विश्वास करने वाले के दोनों हाथों में लड्डू हैं; क्योंकि विश्वास करने वाले के

संयमित जीवन के कारण इहलोक तथा पुण्यार्जन के कारण परलोक, दोनों सुधरने वाले हैं; जबकि अविश्वासी के असंयमित जीवन के कारण इहलोक और पापार्जन के कारण परलोक दोनों ही बिगड़ने वाले हैं। लिहाजा स्वर्ग व नर्क के अस्तित्व पर विश्वास करते हुए अपने जीवन को धर्ममय करना चाहिए, यही इस कहानी का कथ्य है।

‘मोय सुन सुन आवे हाँसी’ कहानी में कहा गया है कि—

यदि जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य पाना चाहते हैं तो उस लक्ष्य को पाने के लिए दर-दर भटकना भी पड़े तो भी महंगा नहीं है; क्योंकि उस भटकन से वह लक्ष्य के करीब पहुंच जाता है। कहानी के नायक सुखानंद ने योगीजी से मीना मछली तक की यात्रा के लिए अनेक पड़ाव पार किए और अंत में वह अपने लक्ष्य तक पहुंच ही जाता है।

किस्सागोई शैली में लिखी यह कहानी आरम्भ से लेकर अंत तक घटना दर घटना पाठक की उत्सुकता को बनाए रखती है। मीना मछली और सुखानंद के संवाद भी नाटकीयता से भरे हुए हैं। साथ ही अपने कथ्य के संप्रेषण की दृष्टि से भी सफल कहानी है।

जम्बूस्वामी के जीवन चरित्र की अंतर्कथा के रूप में चर्चित घटना के पात्र विद्युच्चर चोर के जीवन को प्रस्तुत करने वाली ‘परिणामों की विचित्रता’ कहानी में हस्तिनापुर के राजा संवर का पुत्र विद्युच्चर चौर्य कला में प्रवीण होना चाहता है, अतः उस प्रयोजन से नगरश्रेष्ठि अर्हददास के घर में चोरी करने जाता है। वहां उनके पुत्र जम्बूकुमार के विवाह के प्रथम मिलन के अवसर पर अपनी चारों पत्नियों से वैराग्य प्रेरक तत्त्वचर्चा कर रहे थे। विद्युच्चर ने जब उस चर्चा को सुना तो विस्मय से भर उठा। कहां तो प्रथम मिलन का प्रसंग और कहाँ ऐसी तत्त्वचर्चा! विद्युच्चर का चोरी का राग, विराग में परिणमित हो गया। फलतः दीक्षा धारण करने के लिए चल पड़ा।

यद्यपि कथा पौराणिक और प्राचीन हैं, किन्तु कथा के माध्यम से परिणामों की विचित्रता को जिस तरह से रेखांकित किया है, वह उत्तरोत्तर कौतूहलवर्धक है।

विद्युच्चर के चरित्र के परिवर्तन से सिद्ध होता है कि— परिणामों में बदलाव किसी भी क्षण हो सकता है, और यही क्षणिक पर्याय की असीम सामर्थ्य है। कहानी में आयी ‘जब थाली खोती है तो गागर में

हाथ डालते हैं' जैसी कहावतें और अनेक सूक्तियाँ कहानी प्रवाह को समृद्ध करती हैं।

बाल मनोविज्ञान पर आधारित 'चाँटे का काम काँटे से' संकलन की अन्तिम कहानी है। यह कथा एक ऐसे बालक की है, जिसका नाम ही नहीं काम भी नटखट है, घर के सभी सदस्य उसे बिना पीटे, सुधारना चाहते हैं, एतदर्थ चिंतित रहते हैं, आखिर में माँ को एक रास्ता मिल ही गया। माँ ने सीढ़ी दर सीढ़ी उसे समझाकर सुधारने का उपाय निकाल लिया। बालक को चार बार रास्ते में काँटा लगता है, चारों दफा माँ अलग-अलग कारण बताकर उस बालक को सुधारने का प्रयास करती है।

यह कथा एक साथ दो कथ्यों को प्रस्तुत करती है। पहले कथ्य में लेखक ने भव्य जीवों को सन्मार्ग बताने को जिनवाणी के चारों अनुरोधों की उपदेश की शैली के बारे में वर्णन किया है।

दूसरे कथ्य का महत्त्व बाल मनोविज्ञान से जुड़ा है। यह समस्या सामान्यतः प्रत्येक परिवार की है, जहाँ छोटे बच्चे हैं। बच्चे गलतियाँ करते हैं, और परिवार के बुजुर्ग सदस्य उन बच्चों को सुधारने का कार्य करना चाहते हैं। लेकिन यह सुधार कार्य कैसे किया जाए, यह उससे भी बड़ी समस्या होती है। आखिर बच्चों को मारपीट न कर सुधारने का कार्य किया जाता है।

यहां कथा लेखक एक समाधान देने का प्रयास करते हैं कि बनिस्पत मार-पीट के यदि सही मौके पर बच्चों को समझाया जाए और उन्हें सही रास्ता दिखाया जाए तो हम उन बच्चों को न केवल सुधार सकते हैं, बल्कि संस्कारित भी कर सकते हैं।

कहानी आदि से अंत तक पाठक को स्वयं से जोड़े रखती है, जो कि लेखक की विशेषता है। यद्यपि कथा का कथ्य एकदम नवीन नहीं है, किन्तु कथा के प्रस्तुतीकरण की शैली उसे बिल्कुल नया बना देती है।

कुल मिलाकर संकलन की सभी कहानियाँ पाठक को कथा संसार के नये क्षितिज से परिचित कराती हैं। इस संकलन की कथाओं का कथ्य हमारे जीवन की उन भूलों की ओर इंगित करता है, जो सहज ही हमारे जीवन में हो रही हैं; किन्तु हम उनसे अनजान हैं।

कथा—तत्त्व के साँचे के अस्तित्व को आलोचक तो बहुत पहले ही नकार चुके हैं, अतः उस साँचे को आधार बनाकर इन कहानियों को देखना—परखना बेमानी है, निरर्थक है।

वैसे तो प्रायः प्रस्तुत कहानियों में कहानी के सभी तत्त्व हैं; पर कथाकार का साध्य कथ्य है। अतः वह कहानी के तत्त्वों के निर्वाह में अधिक नहीं उलझा।

कथा में कथ्य कई स्तरों पर प्रवाहमान है। एक तो मूल कथ्य जिसका निर्वाह कथाकार आद्यन्त करता ही है। दूसरे संदर्भित या संयोगी कथ्य, जो स्थान—स्थान पर कथा के साथ बोलते नजर आते हैं।

निःसंदेह जैन साहित्य को नूतन कहानी शैली में प्रस्तुत यह तत्त्वज्ञान लेखक को तो अमरत्व प्रदान करेगा ही, युवा पाठकों को भी आकर्षित करेगा।

कहानी के तत्त्वों की कसौटी पर : कहानियाँ

के.के.पी.जी. कॉलेज खतौली (उ. प्र.) के व्याख्याता डॉ. मनीष कुमार शास्त्री एम. ए., पीएच.डी. लिखते हैं कि— “जैन साहित्य जगत में पण्डित रतनचंद भारिल्ल प्रथम पंक्ति के साहित्यकार हैं। साहित्य के क्षेत्र में आपके आगमन से जैन साहित्य जगत निश्चित ही गौरवान्वित हुआ है। विशेष रूप से कथा—साहित्य के क्षेत्र में तो पण्डितजी को मानो कोई ऋद्धि प्राप्त है। आपके उपन्यासों को समाज में जो सम्मान मिला है, वह जैन साहित्य जगत के वर्तमान युग की एक अविस्मरणीय घटना है। ‘विदाई की बेला’ जैसी अमरकृति के लिए जैन समाज पण्डितजी से कभी उन्नत नहीं हो सकेगा।

प्रत्येक साहित्यिक रचना रचनाकार के व्यक्तित्व की दस्तावेज होती है। रचनाकार का व्यक्तित्व उसकी रचना से परे नहीं होता। पण्डितजी के सम्पूर्ण साहित्य पर उनके निजी व्यक्तित्व की गहरी छाया है। उनका व्यक्तित्व परछाई की तरह एक—एक पंक्ति के साथ समान्तर रूप से चलता है। जीवन की विडम्बनाओं, परिस्थितियों की विचित्रताओं में विवेक द्वारा धैर्य एवं आध्यात्मिक शान्ति की महत् अभिव्यक्ति ही पण्डित भारिल्लजी के साहित्य का मूल स्वर है। आपके साहित्य की रचना जैनदर्शन की पृष्ठभूमि पर हुई है।

जैनदर्शन की विचारधारा रत्नराशि की तरह सर्वत्र बिखरी हुई है। जैनदर्शन एवं निजी जीवन के अनुभवों का मणिकांचन योग पण्डित भारिल्लजी की रचनाओं में देखने को मिलता है।

कथा साहित्य में जैनदर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को भी अपनी सरल, रोचक एवं दृष्टान्त युक्त शैली के द्वारा श्रोताओं को सहजता से समझा देना पण्डितजी के प्रवचन की भी विशेषता है।

'जान रहा हूँ देख रहा हूँ' पुस्तक की कहानियाँ उद्देश्य प्रधान हैं। इन कहानियों का लक्ष्य जैनदर्शन की विचारधारा को दृष्टान्तों के माध्यम से सरल शैली में समझाना है। सभी कहानियाँ जैन तत्त्वज्ञान की पार्श्वभूमि में लिखी गई हैं। सामान्यतः जैन समाज को संबोधन करना ही पण्डितजी को अभीष्ट है।

जीवन में परिस्थितियों की प्रतिकूलता एवं उतार-चढ़ाव विद्वानों के जीवन का शृंगार रहा है। विडम्बनाएं विद्वानों के लिए वरदान हैं। पण्डितजी ने निजी जीवन से प्राप्त अनुभवों के तिनकों-तिनकों को जोड़ कहानियों की रचना की है।

'मुझे तो इन बातों की खबर ही न थी', 'मान से मुक्ति की ओर', 'ऐसे क्या पाप किए', 'स्वर्ग वास हूँ नीको नाही' सरीखी कहानियाँ इन्हीं अनुभवों का लेखा-जोखा है। इन कहानियों का लहजा प्रथमानुयोग जैसा है, जिसमें पुण्य-पाप की विचित्रता दिखाकर वैराग्य को श्रेयस्कर बताया जाता है। इन कहानियों का उद्देश्य कला का प्रदर्शन नहीं; अपितु जीवन जीने की कला सिखाना है।

प्रस्तुत कहानियों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। प्रथम वर्ग में वे कहानियाँ आती हैं, जिनमें अन्याय, अनीति एवं भोगवृत्ति को छोड़कर धर्ममार्ग में लगने की प्रेरणा है। 'मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं थी', 'मान से मुक्ति की ओर', 'स्वर्गवास हूँ नीको नाही', 'ऐसे क्या पाप किए' ये कहानियाँ प्रथम वर्ग में आती हैं।

दूसरे वर्ग में वे कहानियाँ हैं जो किसी विशेष बिन्दु को समझने के उद्देश्य से द्रष्टान्तों के रूप में लिखी गई हैं। 'पूजन और प्रवचन', 'पहले मुनि या मुनीम', 'मोह सुन-सुन आवे हाँसी', 'जान रहा हूँ देख रहा हूँ', 'यदि स्वर्ग नरक नहीं हुए तो', 'परिणामों की विचित्रता' - ये

कहानियाँ द्वितीय वर्ग में आती हैं। इनमें दृष्टान्तों को ही कहानियों का रूप दे दिया गया है।

प्रथम वर्ग की कहानियों के केन्द्रीय पात्रों में मनुष्य की छटपटाहट विद्यमान है। 'मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं थी' का विद्याधर पेशे से एक वकील है। सफल वकील होने के बावजूद उसकी बैचेनी के नमूने देखिए— "मुझे वकालत के अलावा कुछ भी तो नहीं आता। वकालत में भी मैंने पाप भावों के सिवाय भला काम कुछ भी तो नहीं किया। फिर भी मुझे यह बड़प्पन का अहंकार क्यों? धर्म के क्षेत्र में भी मुझे कुछ नहीं आता, फिर भी बड़प्पन के चक्कर में कभी धर्म के दो शब्द भी तो नहीं सुने।..... मैंने जीवन का सारा महत्त्वपूर्ण सारभूत समय वकालत के ज्ञान में यूँ ही बर्बाद कर दिया है।"

'मान से मुक्ति की ओर' का 'जिनुआ' किस तरह 'जिन्नूजी' और 'जिन्नूजी' से 'सेठ जिनचंद' बनता है— यह नियति की विचित्रता ही तो है। नियति के इस कुचक्र में वह अपनी असलियत (औकात) भूल जाता है। बेटे के अपहरण और पुण्य की क्षीणता ने उसे पुनः उसी भूमि पर ला दिया। वह नहीं जानता था कि— "रोड़ पर पैदल रास्ता नापने वालों को करोड़पति बनकर कार में दौड़ने में देर नहीं लगती, तो करोड़पति से पुनः रोड़ पर आने में भी देर नहीं लगती।"

'स्वर्ग वासहुँ नीको नाहीं' का सेठ मनमोहन भी नियति के इसी कुचक्र का शिकार है। सच्चाई और न्याय—नीति की परवाह किये बिना वह करोड़पति तो बन गया; किन्तु आयकर विभाग के प्रकोप, वाशिंग मशीन से पत्नि की मौत और दुर्घटना में बेटे के अपाहिज होने से सेठ भी उसी स्थिति में आ गया जहाँ मान से मुक्ति की ओर वाला 'जिन्नू' था।

'ऐसे क्या पाप किए' में लक्ष्मी नंदन का 'लक्ष्मीवंदन' होना भी नियति का मजाक था। "अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराकर वह देवी—देवताओं और मंत्र—तंत्रवादियों तथा ज्योतिषियों के चक्कर काटने लगा था", "कमाई का बहुभाग देवी—देवताओं, मंत्र—तंत्रवादियों की भेंट, पूजा—पत्री में चढ़ने लगा।" वह सोचता है— "लोग कहते हैं पुण्य करो, धर्म करो, सुख होगा। मैंने जीवन भर अपने कर्त्तव्य का

पालन कर पुण्य ही तो किया, पाप बिल्कुल भी नहीं किया, फिर भी यह सब चक्कर क्या है? "यद्यपि मैं देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए घी के दीपक की ज्योति जलाता हूँ, वर्ष में दो बार तीर्थ कर आता हूँ, फिर भी कुछ नहीं.....। इससे मुझे लगता है कि— मैं कहीं भूल में तो हूँ, अन्यथा यह दुःख क्यों? पण्डितजी! हमने पूर्वजन्म में ऐसे क्या पाप किए जिनका यह फल हमें मिल रहा है।" इस प्रकार लक्ष्मीनंदन भी उसी धरातल पर आ जाता है जहां सेठ जिनचंद, मनमोहन और विद्याधर थे।

यहां शुरू होता है पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व और प्रारम्भ होती है सत्य की खोज। सेठ जिनचंद, सेठ मनमोहन, वकील विद्याधर और लक्ष्मीकांत व्यक्ति नहीं, बल्कि व्यक्तियों की दूषित विचारधाराएं हैं। हममें से कोई भी जिनचंद व मनमोहन हो सकता है। लक्ष्मीनंदन और वकील विद्याधर भी हमारे चारों ही ओर चलते-फिरते नजर आ जायेंगे। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उपर्युक्त पात्रों के चरित्र का अंश किसी-न-किसी रूप में देखा जा सकता है। ये पात्र हमारी अंतरंग मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं।

कहानीकार द्वारा उपर्युक्त चरित्रों का सृजन मात्र समस्या प्रस्तुत करके पाठक को अतृप्त छोड़ने के लिए नहीं हुआ, बल्कि कहानीकार ने समाधान का प्रयत्न भी किया है। यह समाधान ही कहानियों का मूल उद्देश्य है। पात्रों का हृदय परिवर्तन और उनकी आध्यात्मिक जिजीविषा ही इन कहानियों का प्राण है। सेठ जिनचंद आदि पात्रों के जीवन का पुनर्जागरण एवं आध्यात्मिक उत्थान कथाकार के इसी उद्देश्य को पूरा करते हैं। प्रतिकूलताओं और अनुकूलताओं में हर्ष-विषाद न करके आत्मतत्त्व की अनुभूति ही जीवन की धुरी होनी चाहिए।

सेठ जिनचंद का परिवर्तन देखिए— "मैं संकल्प करता हूँ कि पुण्योदय से प्राप्त धन विषय-कषाय की पूर्ति में और दुर्व्यसनों में बर्बाद नहीं करूंगा।" यह सब पुण्य-पाप का विचित्र खेल 12 वर्ष की समयावधि में ही देखकर सेठ संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गया। उसे ऐसा वैराग्य आया कि वह घर-परिवार से मुंह मोड़कर पुनः करोड़पति बनने का विकल्प छोड़कर पुण्य-पाप से पार आत्मा

के उस अनंत वैभव को प्राप्त करने के लिए चल पड़ा, जिसका कभी अंत नहीं आता, जो कभी नष्ट नहीं होता।" आसक्ति से अनासक्ति की यह यात्रा ही इन कहानियों का मेरुदण्ड है।

द्वितीय वर्ग की कहानियाँ मूलरूप में मात्र दृष्टान्तों का प्रयोग नहीं, बल्कि कहानी के माध्यम से गंभीर बातों का सरलता से समझाना है।

इस द्वितीय वर्ग में 'जान रहा हूँ देख रहा हूँ' में चोर के दृष्टान्त द्वारा सहज ज्ञातृत्व को श्रेयस्कर बताया है। 'पूजन और प्रवचन' में दशलक्षण और मुनिसंघ के काल्पनिक दृश्य द्वारा पूजन और प्रवचन का तुलनात्मक अध्ययन सहज ही सुन्दर बन पड़ा है। 'पहले मुनि या मुनीम' में मुनीम के दृष्टान्त द्वारा मुनि बनने के पूर्व की भूमिका बताई है। "यहां अध्यात्म में मुनीम का अर्थ किसी लौकिक सेठ की रोकड़ बही लिखने और रुपये के लेन-देन का हिसाब-किताब करने की नौकरी करना नहीं है, अपितु अपने आत्मा के लक्ष्य से बने लक्षपति चिन्मय सेठ की सेवा में रहकर द्रव्य-गुण-पर्याय और जीवादि सात तत्त्वों के खातों का सही लेखा-जोखा रखने का है।"

आधुनिक युग में धर्म के प्रति उपेक्षा एवं स्वर्ग-नरक के प्रति अनास्था के स्वर लगातार तेज होते जा रहे हैं। 'यदि स्वर्ग-नरक नहीं हुए तो' में बूढ़ी अम्मा द्वारा नास्तिक व्यक्ति को दी गई नसीहत बहुत ही आकर्षक एवं हृदयस्पर्शी है। वह व्यक्ति स्वर्ग-नरक को नहीं मानता। वह बुढ़िया की धार्मिक क्रियाओं का मजाक उड़ाता है। जवाब में बुढ़िया ने जो वचन कहे, उन्हें यहां प्रस्तुत किये बिना आगे बढ़ने का दिल नहीं करता। बुढ़िया कहती है- "अरे! तेरी मान्यता के अनुसार ही सही। मानो स्वर्ग-नरक न भी हुए तो भी मेरा क्या बिगड़ा? संयम से रही, शुद्ध खान-पान रखा, भले काम करने से चित्त में प्रसन्नता रही, निश्चिन्त और संतुष्ट रही।" "मैं तो किसी तरह घाटे में नहीं हूँ।" "परन्तु कदाचित् नरक-स्वर्ग हुए तो तेरा क्या होगा? अपनी सोच! तूने तो नरकों के अस्तित्व से इंकार कर निर्भयता से स्वच्छन्द होकर जो दुर्व्यसन सेवन किए उनसे वर्तमान जीवन को ही भरी जवानी में यहीं नरक बना लिया है।" "अब तू न

घर का रहा न घाट का। कुत्ते के मौत मरने जैसी तेरी हालत हो गई है। क्या इसे ही मौज-मस्ती से जीना कहते हैं।”

इस वर्ग की अंतिम कहानी है— ‘मोय सुन-सुन आये हाँसी’ यहाँ मछली के दृष्टान्त द्वारा एक सार्वभौमिक सत्य का उद्घाटन किया है। प्रत्येक प्राणी स्वयं भगवान है, सुख का सागर है किन्तु अज्ञानतावश वह उसे बाहर खोजता फिरता है।

मछली कहती है— “यदि पानी में आकण्ठ निमग्न रहने पर मैंने स्वयं को प्यासा बताया और तुमसे बाहर से पानी जाने को कहा तो तुम्हें मुझ पर हँसी आ गई! अरे! तुम भी तो सुख के सागर में आकण्ठ निमग्न हो, सुख गुण से लबालब भरे हो, फिर भी तुम उसे भूलकर सुख के लिए इधर-उधर भटक रहे हो, भोगों के भिखारी बन गये हो।” इसप्रकार ये कहानियाँ गंभीर आध्यात्मिक तत्त्वों को सरलता से समझने के लिए उपयोगी है।

‘साहित्य समाज का दर्पण है।’ इस उक्ति के अनुसार प्रस्तुत कहानियों में कहानीकार ने जैन समाज में व्याप्त सैद्धान्तिक व्यावहारिक भ्रान्तियों को बड़ी चतुराई से उकेरा है। जैन कुल में उत्पन्न होने मात्र से कोई जैन नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानसहित अनासक्त भाव से जीवन जीने वाला ही सच्चा जैन है। अन्याय-अनीति, छल-कपट और भोगों में आसक्त व्यक्तियों की कथाकार ने अच्छी-खासी खबर ली है। ‘मान से मुक्ति की ओर’ में वर्तमान जैन सेठों की जीवन-शैली का कितना यथार्थ चित्रण बन पड़ा है?

सेठ जिनचंद कहता है— ‘कल ही तो उसने पचास लाख का बंगला लिया है। तीस लाख की नई मर्सिडीज गाड़ी बुक कराई है। दस लाख के बहू के लिए हीरो के गहने बनवाये हैं, मेरी 50वीं वर्षगांठ को मनाने का लगभग 5 लाख का बजट है।’

जैन समाज के नैतिक मूल्यों में गिरावट के साथ-साथ आध्यात्मिक बिन्दुओं पर भी समाज में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। गहराई में उतरे बिना ही अनेक लोगों ने समाज में अध्यात्म के प्रति द्वेष का वातावरण निर्मित किया जा रहा है। पीड़ा तो तब होती है जब इस प्रकार की चेष्टाएँ ऐसे

व्यक्तियों द्वारा होती हैं, जिनका कर्तव्य समाज को राह दिखाना है, गुमराह करना नहीं। इस दिशा में भी कथाकार का ध्यान गया है।

अध्यात्म में सहज-ज्ञातृत्व का उपदेश ही प्रधान है। वस्तुतः साधना का आधार एवं अंतिम सत्य भी यही सहज ज्ञातृत्व है; किन्तु इसको वास्तविक रूप में न समझने पर यह संदेह खड़ा हो जाता है कि "यदि हम सहज ज्ञाता-दृष्टा रहेंगे तो हमारे सभी कार्य कौन करेगा? पुरुषार्थ का लोप ही हो जायेगा. आदि.....।" इसे पंचम काल का प्रभाव ही कहना चाहिए कि इन भ्रान्तियों को फैलाने का प्रयत्न धर्म के ठेकेदार त्यागी-तपस्वियों द्वारा हो रहा है।¹

जो भी हो, कथाकार निराश नहीं हुए। 'जान रहा हूं देख रहा हूं' इसी भ्रान्ति का समाधान प्रस्तुत करने वाली कहानी है। "वस्तुतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता नहीं है; क्योंकि दो द्रव्यों के बीच वज्र की दीवाल है।" "आत्मा का धर्म तो सचमुच मात्र जानना-देखना है।"²

गृहवास के राग की आग का त्याग कर निवृत्त जीवन जीना एक महान उपलब्धि है। प्रत्येक गृहस्थ ऐसे जीवन की मधुर कल्पना संजोता है, क्योंकि मुनि बनने की भावना से फलीभूत होने का नाम मुनिदशा है, किन्तु वर्तमान में मुनिधर्म के मूल्यों में लगातार गिरावट का वातावरण है। मुनि बनने की पूर्व-भूमिका इसका वास्तविक स्वरूप और इस पद की गरिमा को समझे बिना ही मुनि दीक्षा ग्रहण करने की प्रवृत्ति समाज एवं धर्म के लिए एक ज्वलंत समस्या है। 'पहले मुनि या मुनीम' इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करने वाली कहानी है। कथाकार का उद्देश्य लोगों को मुनि बनने से रोकना नहीं, बल्कि सच्ची समझ पूर्वक मुनि बनने की प्रेरणा देना है। "मोक्षमार्ग में मुनि बनने से पहले सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की तथा अपने-पराये की यथार्थ पहचान हो, स्व-पर भेद विज्ञान हो, सातों तत्वों में हेय-उपादेय-ज्ञेय का विवेक हो, वस्तुस्वातंत्र्य एवं सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की रुचि हो। मुनिधर्म अंगीकार करने के पहले ऐसा हिसाब-किताब रखने वाला मोक्षमार्ग का मुनीम होता है। ऐसा सच्चे देव-शास्त्र गुरु की शरण में रहने वाला मुनीम आत्म साधना का व्यापार करते-करते एक दिन स्वयं मुनि बन जाता है।"³

1. मान से मुक्ति की ओर, पृष्ठ 51

2. वही, पृष्ठ 80-81

3. वही, पृष्ठ 88, 91

वर्तमान युग में भक्ति बढ़ी है, किन्तु विवेक घटा है। धार्मिकता में वृद्धि हुई है, किन्तु धर्म की समझ का हास हुआ है। यही कारण है कि व्यक्ति पूजा-अर्चना तो करता है, किन्तु पूजन का उद्देश्य, स्वरूप, फल आदि के विषय में वह कुछ नहीं जानता। 'मैं कौन हूँ?' भगवान कौन हैं? मैं भगवान कैसे बन सकता हूँ? - इन प्रश्नों के समाधान के लिए मानों फुरसत ही नहीं है। लोग घंटों पूजन करते हैं किन्तु उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान जहां होता है, ऐसी शास्त्रसभा से तो मानो परहेज हो। ऐसी अरुचि रखते हैं। समाज की इसी विसंगति को प्रस्तुत करने वाली कहानी है- 'पूजन और प्रवचन'। इसमें कथाकार ने पूजन और प्रवचन में तुलना करते हुए प्रवचन का महत्त्व बताया है। प्रवचन के महत्त्व को जितनी सहजता से पण्डितजी ने समझा दिया वह अद्भुत है। "अरे भाई! पूजन में हम भगवान से कुछ कहते हैं और प्रवचन में जिनवाणी के माध्यम से भगवान हमसे कुछ कहते हैं।" "अरे वे तो सर्वज्ञ हैं, तुम जो भी कहना चाहते हो, वे उसे पहले से ही जानते हैं, अतः अपनी कहो कम और उसकी सुनो अधिक।"

जैन समाज की इन सम-सामयिक समस्याओं को यदि हम दायरे से बाहर निकलकर विस्तृत फलक पर देखें तो हम पायेंगे कि जैन समाज में ही नहीं, अपितु जैनेत्तर समाजों में भी ये समस्यायें उपस्थित हैं।

पण्डितजी का हृदय केवल जैन समाज के लिए नहीं धड़कता बल्कि सम्पूर्ण मानवजाति पर 24 घंटे मंडराने वाले संकट की आहट भी वे सुन रहे हैं।

"किसी आतंकवादी के मस्तिष्क में कब पागलपन का दौरा आ जाये या कब यह सनकी मानव एक जाम अधिक पीकर सनक जाये और एक ही पल में पूरा प्रगतिशील विश्व बर्बाद हो जाय, यह किसी को पता नहीं। स्वार्थ और मिथ्या अभिमान से भरे मानवों के आपसी टकराव के कारण आतंकवाद के भूत का भय सिर पर सवार रहता है। मानो यमराज ही मुँह बाये खड़ा हो।"

ऐसी स्थिति में मानव के कल्याण के लिए कथाकार का एक ही संदेश है- आत्म जागृति एवं अनासक्ति।

इस प्रकार वर्तमान की विसंगतियों और विकृतियों के समावेश से प्रस्तुत कहानियों में संवेदना का सहज ही विस्तार हो गया है।

प्रस्तुत सभी कहानियां शिक्षाप्रद हैं। जैनदर्शन के प्रमुख बिन्दुओं को प्रस्तुत करना इनका प्रमुख लक्ष्य है। आधुनिक युग में कहानी साहित्य के जो मापदण्ड हैं। उन्हें समालोचक भी नकार चुके हैं। पर इन कहानियों की समता हम पंचतंत्र व हितोपदेश की उन कहानियों से तो कर ही सकते हैं, जिनका उद्देश्य है मात्र हित की शिक्षा देना। यद्यपि आधुनिक कथा तत्त्वों की कसौटी पर इन कहानियों को कसने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी बहुत कुछ निर्वाह हुआ है, जो इस प्रकार है।

आधुनिक समीक्षा में कहानी का मूल्यांकन छः तत्त्वों के आधार पर किया जाता रहा है। ये छः तत्त्व हैं— कथावस्तु (कथानक) पात्र, संवाद, देशकाल, भाषा—शैली एवं उद्देश्य। इनके अलावा 'शीर्षक' को भी कुछ विद्वान शामिल करते हैं, जिससे इनकी संख्या सात हो जाती है।

1. **शीर्षक** — के निर्धारण में प्रस्तुत कृतियों में कथाकार को काफी सफलता मिली है। सभी शीर्षक कहानियों की मूल संवेदना का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। 'मोय सुन—सुन आवै हाँसी' एवं 'स्वर्गवास हूँ निको नाहीं' में आँचलिक भाषा के पुट से सहज ही ये शीर्षक प्रभावशाली बन गए हैं। शीर्षकों के निर्धारण में कहानीकार की दृष्टि कथ्य से विचलित नहीं हुई।

2. **कथावस्तु** — कथावस्तु कहानी का आधार होती है। इस तत्त्व का जन्म कहानीकार की उन लक्ष्यात्मक प्रवृत्तियों से होता है, जिसके धरातल और मूल प्रेरणा से वह अपनी कहानी का निर्माण करता है। प्रस्तुत कहानियों का कथ्य तो स्पष्ट ही है और कथावस्तु भी अपने प्रयोजन को पूरा करने में सफल है। कुछ कहानियों में दूसरी कहानी का समावेश कहानीकार का अपना साहस है; क्योंकि कहानी कला में यह अपवाद है।

विस्तृत उपदेश की प्रवृत्ति धार्मिक शिक्षाप्रद कहानियों में ही सम्मान पा सकती है। वस्तुतः इन कहानियों का धार्मिक एवं शिक्षाप्रद

होने से कहानीकार की उपदेश प्रधान प्रवृत्ति भी अस्वाभाविक नहीं है। यहाँ कथाकार का उद्देश्य भी कहानी कला नहीं, बल्कि जीवन जीने की कला समझाना है।

3. पात्र — प्रस्तुत कहानियों में पात्रों की योजना रोचक है। पात्रों का चयन बहुत ही सोच-समझकर किया गया है। सभी पात्र यथार्थ हैं और वर्तमान परिवेश से ही गृहीत हैं। साधु-संतों का समावेश भी उद्देश्य विशेष की पूर्ति करता है। पात्र प्रायः वर्गगत हैं। वकील विद्याधर, सेठ मनमोहन, सेठ जिनचंद, बूढ़ी अम्मा, लक्ष्मीनंदन जैसे व्यक्तियों का चरित्र स्वयं तक सीमित नहीं है, बल्कि ये सभी अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी पात्र यथार्थ एवं जीवंत हैं।

4. कथोपकथन (संवाद) — यह कहानी का प्रमुख तत्त्व है। इससे कहानी में सजीवता, आकर्षण एवं गतिशीलता आती है। प्रस्तुत कहानियों में 'मान से मुक्ति की ओर' एवं 'यदि स्वर्ग-नरक नहीं हुए तो' — इन दो कहानियों में संवादों का प्रयोग काफी आकर्षक है। संवाद प्रसंग एवं पात्रों के अनुकूल हैं। विद्याधर बुद्धिसेन एवं बूढ़ी अम्मा-प्रौढ़ व्यक्ति के संवाद स्वाभाविक एवं सजीव हैं। बूढ़ी प्रौढ़ का चुटकीला एवं गंभीर संवाद इस संग्रह के श्रेष्ठ संवाद हैं। इनके अलावा जो भी संवाद हैं वे भी स्वाभाविक एवं कथा-विकास में सहयोग देने वाले हैं।

5. देशकाल — कहानी में वातावरण या देशकाल दो प्रकार से देखा जाता है— मानसिक ढंग से और भौतिक ढंग से। वकील विद्याधर, जिनचंद, सेठ मनमोहन, लक्ष्मीनंदन, सुखानंद आदि पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व, हर्ष-विषाद, राग-विराग प्रथम प्रकार के उदाहरण हैं एवं दशलक्षण-अष्टान्हिका पर्व, जयपुर नगर की सुन्दरता, प्राकृतिक दृश्यों एवं सामाजिक चित्रण द्वितीय प्रकार के उदाहरण हैं। सामाजिक विसंगतियों के समावेश से इन कहानियों की सामयिकता तो सहजसिद्ध है ही।

6. भाषा-शैली — प्रस्तुत कहानियों की भाषा सीधी-सरल खड़ी बोली है। भाषा को अनावश्यक रूप से दुरुह व साहित्यिक

बनाने का बचा गया है। उपदेश व शिक्षा के लिए जैसी सरल व सपाट भाषा होनी चाहिए उसी भाषा का प्रयोग किया गया है। संस्कृत के तदभव एवं तत्सम शब्दों की प्रचुरता होने पर भी भाषा कहीं भी कठिन नहीं हो पाई है। इस प्रकार भाषा कहानियों के स्वभाव के बिल्कुल अनुकूल है। जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से आम पाठकों को अवश्य परेशानी हो सकती है। पर्याय, परिणमन, द्रव्य-गुण-पर्याय, संवर-निर्जरा, त्रिकाली स्वभाव, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, अनपपवर्त्य, गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व, सम्यग्दर्शन आदि जैनदर्शन के शास्त्रीय शब्द हैं। यद्यपि साहित्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग दोष माना जाता है, तथापि इन शब्दों के बिना कथाकार का उद्देश्य पूर्ण होता दिखाई नहीं दिया, इसलिए जरूरत के अनुसार उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग किया है।

'स्वर्ग वासहूँ नीकौ नाहीं' - विशुद्ध रूप से विवरणात्मक शैली की कहानी है, जबकि 'ऐसे क्या पाप किए' आत्मकथ्य की शैली में लिखी गई है। लोकोक्तियों, गीतों, श्लोकों एवं सूक्तियों का भी कथाकार ने अच्छा उपयोग किया है।

7. उद्देश्य - संसार की कोई भी वस्तु निरर्थक व निरुद्देश्य नहीं है। उसका होना ही उसकी उपयोगिता सिद्ध करता है। सामान्यतः कहानी को मनोरंजन का उत्कृष्ट साधन माना जाता है, किन्तु कहानी जैसी साहित्य की उत्कृष्ट विधा का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानना उसकी गरिमा को नष्ट करना है।

प्रस्तुत कहानियों का उद्देश्य भी मात्र मनोरंजन करना नहीं, अपितु सार्वभौमिक शाश्वत आध्यात्मिक एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना करना है। राग से वैराग्य, आसक्ति से अनासक्ति, परोन्मुखता से स्वोन्मुखता की ओर ले जाना एवं जैन तत्त्वज्ञान को रेखांकित करना कहानीकार का प्रमुख उद्देश्य है। इससे उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली है। सभी कहानियां उद्देश्य प्रधान ही हैं एवं पाठक पर अनेक रूपों में अपना प्रभाव छोड़ती हैं।

इस प्रकार पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल की प्रस्तुत कथा-संग्रह रूप रश्मियों से समाज को एक नई दिशा मिली है।

गद्य साहित्य में निबन्ध

निबन्ध साहित्य

विकास की दृष्टि से इस विधा को निम्न आधारों पर विभाजित किया गया है -

1. भारतेन्दु युग 2. द्विवेदी युग 3. शुक्ल युग 4. शुक्लेतर युग

1. भारतेन्दु युग

यह युग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम से अभिहित है। इस युग में देश की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों के प्रति प्रत्येक लेखक सजग था। इस युग के प्रमुख निबन्धकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र आदि हैं। बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', बाबू तोताराम, ठाकुर, जगमोहनसिंह, लाला निवासदास, पं. केशवराय, पं. अंबिकादास व्यास एवं पं. राधारमण गोस्वामी इस युग के अन्य महत्त्वपूर्ण निबन्धकार थे।

- मंजु चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य का समग्र इतिहास, पृष्ठ 299-300

2. द्विवेदी युग

इस युग के प्रवर्तक महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। इस युग में पत्रकारिता की स्वतंत्रता पर अंकुश लगा था। भारतेन्दु युग में भाषा स्थिर स्वरूप में नहीं थी। द्विवेदीजी ने इस युग में भाषा का सुधार किया। इस युग के प्रमुख निबन्धकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, श्याम सुन्दर दास हैं।

द्विवेदी युग के अन्य निबन्धकारों में चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', गोपालराम गहमरी, पद्मसिंह शर्मा, ब्रजनन्दन सहाय और गोविन्दनारायण मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

- मंजु चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य का समग्र इतिहास, पृ. 3-1, 3-2

3. शुक्ल युग

इस नवीन युग का सूत्रपात रामचन्द्र शुक्ल ने किया। रामचन्द्र शुक्ल के रूप में हिन्दी निबन्ध साहित्य को एक महान लेखक मिला। इस युग के निबन्धकारों में प्रमुखद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय,

पद्मलाल, पुन्नलाल बख्सी, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, बनारसीदास चतुर्वेदी, सम्पूर्णानन्द, महाराज रघुवीर सिंह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। - मंजु चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य का समग्र इतिहास, पृ. 301-302

4. शुक्लेत्तर युग

इस युग में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक कला व वैज्ञानिक सभी प्रकार के निबन्ध लिखे गये हैं। इस युग के प्रमुख निबन्धकारों में प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, डॉ. नगेन्द्र, गजानन्द माधव मुक्तिबोध आदि हैं। इसके पश्चात् विद्यानिवास मिश्र, हरिशंकर परसाई, कुबेरनाथ राय, डॉ. इन्द्रनाथ मदान, शिवदान सिंह चौहान आदि समकालीन निबन्धकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के निबन्ध

निबन्ध साहित्य एक ऐसी कला है जो अनेक प्रकार की समस्याओं को सभी दृष्टियों से प्रस्तुत करती है। साहित्यकार उसमें नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक एवं राष्ट्रीय भावनाओं को केन्द्रित कर अपने विचार प्रस्तुत करता है। वे विचार भारतीय संस्कृति और साहित्य की निधि बन जाते हैं।

णमोकार महामंत्र

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के निबन्धों में उक्त सभी प्रकार की दृष्टियाँ हैं। उनमें सर्वाधिक विचारात्मक एवं भावनात्मक दृष्टि ही मुख्य है। उदाहरण के लिए हम उनके कतिपय उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

प्रस्तुत कृति के माध्यम से लेखक ने णमोकार महामंत्र के विषय में जो नवीन चिन्तन दिया है, वह अवश्य विचारणीय है, क्योंकि यह अनादिनिधन मूलमंत्र जिनागम का सर्वमान्य महामंत्र है। आगम के अनुशासन में रहते हुए अपनी बात रखना और उससे सभी को सहमत कर पाना पण्डित भारिल्ल जैसे मनीषी के ही वश की बात है।

लोगों के मन में व्याप्त भ्रान्तियों का निराकरण भी आपने अपने इस प्रबन्ध में करने का प्रयत्न किया है।

“यह महामंत्र शत्रु विनाशक और विषयभोग प्रदाता नहीं है, किन्तु शत्रुता विनाशक तथा विषय वासना विनाशक अवश्य है।”

इसी प्रकार के विचार और देखिये – “यह महामंत्र आधि-व्याधि, तथा मोह-राग-द्वेष नाश करने के लिए परमौषधि है, विषय-वासना के विष को उतारने के लिए यह महामंत्र नागदमनी-जड़ी-बूटी है, भवसागर से पार उतारने के लिए यह अद्भुत जहाज है, अधिक क्या कहें, निजात्मा से च्युत होने पर एकमात्र यही शरणभूत है।”

इसीप्रकार इस मंत्र को महामंत्र सिद्ध करते हुए कहा है कि जैनियों का यह महामंत्र लौकिक उपलब्धियों के लिए नहीं है और न इसमें कोई इसतरह की कामना ही की गई है। यह तो परमभक्ति का सहज स्फुरण है, जो कामनाओं को शमन करने वाला है, वासनाओं का दमन करने वाला है, लौकिक उपलब्धियों के त्याग की प्रेरणा देने वाला है, कामनाओं एवं वासनाओं की पूर्ति के लिए इसका उपयोग करना काग उड़ाने के लिए बहुमूल्य रत्न को फेंकने जैसी बालचेष्टा है।

इसप्रकार पण्डित भारिल्ल ने अपनी कृति में सम्पूर्ण भ्रान्तियों का शमन एवं विचारणीय तथ्यों को उजागर किया है।

‘णमोकार महामंत्र’ कृति पर मनीषियों के विचार

1. पण्डित रतनचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित ‘णमोकार महामंत्र’ पुस्तिका आगम सम्मत है। अनेक भ्रान्तियों के निराकरण में भी यह पुस्तिका उपयोगी है। सभी को इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। – स्व. आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज (दक्षिण)

2. णमोकारमंत्र के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाली यह बहुत उपयोगी कृति है। लौकिक कामना एवं जन्त्र-तंत्र-मंत्र पर अन्ध श्रद्धा रखने वालों को दिशाबोध देने वाली यह पुस्तिका घर-घर में पहुँचानी चाहिए। – उपाध्याय मुनि श्री उर्जयन्त सागरजी महाराज।

3. ‘णमोकार महामंत्र’ पुस्तक हृदय के पट खोलने वाली है। जैन समाज का बच्चा-बच्चा इसे अवश्य पढ़े।

– स्व. मुनि सूर्यसागरजी महाराज।

4. इस कृति में णमोकार मंत्र पर सभी पहलुओं से पूरे परिश्रम एवं आगम गवेषणा से सर्वांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सचमुच

आज के युग में जब णमोकार जैसे लोकोत्तर मंत्र का उपयोग एकदम भौतिक रह गया है, ऐसी कृति की नितान्त आवश्यकता थी। आशा है कि लोकेषणाओं के लिए णमोकार मंत्र के माध्यम से समाज में हो रहे दुरुपयोग को इस कृति से सही दिशा मिलेगी।

— बाबू जुगलकिशोर 'युगल' कोटा

5. णमोकार मंत्र से जुड़ी अनेक भ्रान्त धारणाओं का समुचित समाधान करने वाली एवं णमोकार मंत्र के उपास्य पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप पर सम्यक्प्रकाश डालने वाली यह पुस्तिका घर-घर तक पहुंचाई जानी चाहिए, जिससे जन-जन णमोकार की सच्ची महिमा से परिचित हो सके।

— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

6. पुस्तक आद्योपान्त पढ़कर प्रसन्नता हुई, आराध्य की पहचान आराधना के लिए आवश्यक है। जनसाधारण के लिए पुस्तक समयानुकूल है। लेखक ने सरल-सुबोध भाषा में, हित-मित-प्रिय वाणी से पुस्तक को अच्छा रूप दिया है। समाज इसका स्वागत करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

— डॉ. कस्तूरचन्द सुमन, श्री महावीरजी।

पाषाण से परमात्मा बनने की प्रक्रिया

न केवल भारत में, बल्कि विदेशों में भी पाषाण की मूर्तियों में परमात्मा का रूप देखने की पुरानी परम्परा है। ये बात अलग है कि प्रत्येक जाति व धर्म के व्यक्ति अपने-अपने मान्य धर्म के अनुसार परमात्मा का स्वरूप भिन्न-भिन्न मानते हैं। कोई मर्यादापुरुष राम के रूप में तो कोई लीला पुरुषोत्तम कृष्ण के रूप में, कोई बाघम्बर पहने महादेव के रूप में, तो कोई ईसामसीह के रूप में परमेश्वर को देखते हैं।

ऐसी ही एक परम्परा जैन धर्मानुयायी एवं बौद्ध धर्मानुयायी व्यक्तियों की भी है। जैन लोग किसी एक परमात्मा को न मानकर ऐसा मानते हैं कि द्रव्यस्वभाव से तो सभी जीव परमात्मा स्वरूप ही हैं; परन्तु जो अपने आत्मा में शुद्धआत्मा, कारणपरमात्मा का स्वरूप देख लेते हैं, जान लेते हैं, पहचान लेते हैं। तथा उससे अपने शुद्ध स्वरूप की प्रतीति कर लेते हैं, वे कालान्तर में उस परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर सदा के लिए स्वयं परमात्म पद प्राप्त कर लेते हैं। अनन्तकाल के लिए अनन्त सुख प्राप्त कर लेते हैं तथा केवलज्ञान प्राप्त कर लोकालोक के ज्ञाता एवं वीतरागी हो जाते हैं।

पण्डित दौलतराम ने कहा भी है—

“सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन।

सो जिनेन्द्र जयवंत नित अरिरज रहस विहीन।।”

ऐसे जीव पर्याय में परमात्मा बन जाते हैं। अनन्तदर्शन अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख एवं अनन्त शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

जिन्होंने स्वयं पूर्णता प्राप्त कर ली है, उन जैसा बनने के लिए हम जैन लोग प्रतिष्ठित पाषाण की प्रतिमा के माध्यम से परमात्मा की आराधना, उपासना या पूजा करते हैं।

पण्डित टोडरमलजी के शब्दों में अरहंत भगवान उन्हें कहते हैं—
‘जिन्होंने गृहस्थापना छोड़ मुनिधर्म धारण कर, निजस्वभाव की साधना द्वारा चार-घातिया कर्मों का क्षय करके अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख एवं अनन्त शक्ति प्राप्त कर ली है।’

कुछ काल बाद आयु पूर्ण होने पर वे अरहंत ही सिद्धपद प्राप्त कर अनन्तकाल तक अनन्तज्ञान के साथ अनन्तसुख भोगते हैं।

उन्हीं परमात्मा की मूर्तियों में पंचकल्याणक के माध्यम से प्रतिष्ठा करके उन्हें पूज्य बनाया जाता है। जैसा कि कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में कहा है —

“जिन प्रतिमा जिन सारखी, कहीं जिनागम माहि।।”

अर्थात् जिनागम में जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा हो जाने पर उसे भगवान के रूप में पूज्य मानकर प्रतिदिन उसकी पूजा एवं प्रक्षाल किया जाता है। प्रतिदिन प्रक्षाल का प्रयोजन तो केवल मूर्ति में वीतरागता बनाये रखना ही है, अन्य कुछ नहीं।

यहां ज्ञातव्य यह है कि साक्षात् समोशरण में भी तो हमें इन चर्मचक्षुओं से तीर्थकर भगवान का परमौदारिक शरीर ही तो दिखाई देता है। उनके आत्मा के दर्शन तो हमें वहाँ भी नहीं होते। अतः हमारे लिए तो हमारा जिनमन्दिर ही समोशरण है और जिनप्रतिमा ही जिनेन्द्र हैं और शास्त्र ही इनकी दिव्यध्वनि का सार है।

जब तीर्थकर भगवान का केवलज्ञानकल्याणक के पूर्व तपकल्याणक होता, तब भावी वैराग्य के प्रसंग का जो सशक्त प्रदर्शन होता है, वह हजारों भव्य जीवों को वैराग्य में प्रेरक बनता है।

ये पंचकल्याणक महोत्सव लौकिक समस्याओं को सुलझाने में भी निमित्त बनते हैं। — ऐसे क्या पाप किए, पृष्ठ 127

निबन्ध साहित्य की विधा के सम्बन्ध में

‘निबन्ध’ साहित्य की उस विधा को कहते हैं, जिसमें गद्य के माध्यम से झंकार उत्पन्न करने वाली भाषा द्वारा इतिवृत्त एवं बुद्धितत्त्व का मोह त्याग कल्पना प्रधानभावना को अभिव्यक्त किया गया हो। यह अभिव्यक्ति तार्किकता और सामाजिकता के विकास में सहायक बनती है। गद्य की अपेक्षा निबन्ध सामाजिकता के अधिक निकट होते हैं।¹

निबन्ध — ‘साहित्य की कसौटी गद्य है, तो गद्य की कसौटी ‘निबन्ध’ है यह कथन गद्य-साहित्य में निबन्ध विधा के महत्त्व को प्रतिपादित करता है। निबन्ध में ही गद्य का शुद्धरूप मिल सकता है।²

निबन्ध : स्वरूप एवं विश्लेषण — निबन्ध धर्म शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले तर्क-वितर्कात्मक लेख हैं। प्रमाणों को एकत्र करके उनका संग्रह करना और लिपिबद्ध करना ही निबन्धन कहलाता था। गद्य की अन्य विधाओं की तरह निबन्धों के नवीन रूप का विकास भी फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य में मिलता है। हिन्दी के निबन्धों का आधार वही था। आधुनिक समय में हिन्दी निबन्ध अंग्रेजी के ऐसे (Essay) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निबन्धों में कल्पना, अनुभूति और व्यक्तित्व तीनों का सुन्दर समावेश है। निबन्ध किसी विषय, विषयांग पर लिखी गई मर्यादित आकार की रचना है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है— ‘निबन्ध पढ़ने के पश्चात् यह आवश्यक है कि उसकी गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े।

सभी पत्र-लेखन या गद्य लेखन निबन्ध नहीं कहा जा सकता है। दो पंक्तियों का पारस्परिक भाषण भी निबन्ध नहीं हो सकता है। निबन्ध कहलाने की एक विशेष कसौटी होती है।³

1. सोनवर्ण सीताराम— हिन्दी गद्य साहित्य प्रकाशक ग्रन्थ, कानपुर, पृ. 1
2. डॉ. मंजु चतुर्वेदी हिन्दी गद्य साहित्य का समग्र इतिहास, प्रकाशक हिमांशु पब्लिकेशन, उदयपुर, पृ. 292
3. वही, पृ. 292

निबन्ध के तत्त्व — निबन्ध वर्णनात्मक या चिन्तनपरक— दोनों हो सकते हैं। निबन्ध के दो तत्त्व माने गये हैं— (1) बाह्य और (2) आन्तरिक। निबन्ध की अनेक स्वरूपगत विशेषतायें होती हैं। जैसे— कसावट— निबन्ध का अर्थ है अच्छी तरह बंधा हुआ। निबन्ध में भावों का विस्तार और विचारों का फैलाव नहीं, बल्कि सुस्पष्टता होनी चाहिए।

व्यक्तित्व की झलक — निबन्ध के प्रत्येक अंश में निबन्धकार अपने व्यक्तित्व की झलक दिखा देता है। निबन्ध में व्यक्ति, वस्तु अथवा दृश्य को उसकी समग्रता में देखता है और उसके समग्र प्रभाव को ही अपनी सहजता में व्यक्त करता है।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं— (1) निबन्ध साहित्य (2) उपन्यास साहित्य (3) कहानी साहित्य तथा (4) पद्य साहित्य।

यहां पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के निबन्ध साहित्य को उपर्युक्त संदर्भ में देखते हैं तो पण्डितजी का निबन्ध साहित्य में प्रायः सभी विशेषतायें उपलब्ध हैं।

स्वयं में पूर्णता — निबन्ध अपने आप में स्वयं पूर्ण होता है। वह समग्र जीवन का एक मूल्यांकन है। निबन्ध में विचार और चिन्तन का संगम होता है। निबन्ध सम्बद्ध भावनाओं के तारतम्य से बंधे हुए विचार है।

प्रवाह — निबन्ध की भाषा में प्रवाह और विचारों में गतिशीलता होती है।

अंग — निबन्ध के विकास में तीन अंग माने गये हैं— भूमिका, मध्य और निष्कर्ष।

भूमिका — भूमिका तब ज्यादा अच्छी होती है जब विषय पर लेखक का पूर्ण अधिकार हो।

मध्य — इसमें तथ्यों का संकलन, संगठन, परीक्षण तथा पक्ष-विपक्ष के तर्कों का समावेश।

निष्कर्ष — निबन्धकार के अभीष्ट की प्रस्तुति।

1. डॉ. मंजु चतुर्वेदी हिन्दी गद्य साहित्य का समग्र इतिहास, प्रकाशक हिमांशु पब्लिकेशन, उदयपुर, पृ. 293-294

सामान्य श्रावकाचार का अंश

‘श्रावकाचार’ के संदर्भ में आचार्य सोमदेव कहते हैं कि— ‘विशिष्ट विद्वान वह है जो पुरातन बात को नए ढंग से कहने में सक्षम हो।’
— यशस्तिलकचम्पू

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के सामान्य श्रावकाचार ग्रन्थ पर उक्त कथन अक्षरशः घटित होता है। उन्होंने अपनी 84 पृष्ठीय ‘सामान्य श्रावकाचार’ पुस्तक में चालीस प्राचीन श्रावकाचारों का गहन अध्ययन, चिन्तन—मनन करके जो तत्त्व निकाला है, उसे उन्होंने अपनी कृति ‘सामान्य श्रावकाचार’ में अति संक्षेप में नवीन पद्धति एवं प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर दिया है। इस कारण उस सामान्य श्रावकाचार पर गागर में सागर उक्ति चरितार्थ हो गई है। लेखक ने उक्त कृति में अपने प्रतिपाद्य विषय का समर्थन आधुनिक विज्ञान से भी कर दिया है, इससे कृति की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

प्रस्तुत कृति में अष्टमूलगुण के विवेचन में प्राचीन शास्त्रों में उल्लिखित मद्य—मांस—मधु तथा पांच उदम्बर फलों का उल्लेख तो है ही, साथ ही उन्हीं उक्त अष्टमूलगुणों के समकक्ष पांच पापों के स्थूल त्याग को, रात्रि भोजन के त्याग को, अनछने जल के उपयोग के त्याग को, सात व्यसनों के त्याग को, द्विदल ओर अभक्ष्य भक्षण के त्याग आदि को भी अत्यन्त सरल भाषा में युक्तियुक्त तरीके से समझाया है।

आठ संख्या कायम रखते हुए आचार्य समन्तभद्र ने तो रत्नकाण्ड श्रावकाचार में ऐसा कहा है कि —

मद्य—मांस—मधु त्यागैः सहाणुव्रत पंचकम् ।

अष्टौ मूलगुणानाहूर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥66॥

तथा अन्य आचार्यों ने रात्रि भोजन त्याग को चौथा, पांच पापों के स्थूलत्याग को पांचवा, अनछने पानी पीने के त्याग को छठवां, पांच उदम्बर फलों के त्याग को सातवां एवं द्विदल के त्याग को मिलाकर आठ मूलगुण कहा है।

यहां प्रश्न होता है कि आलू जैसे जमीकन्दों के नाम तो उपर्युक्त अभक्ष्यों में आये ही नहीं, क्या इन्हें मूलगुणों में शामिल नहीं किया गया।

उत्तर - जिस जमाने में अष्ट मूलगुणों के त्याग की चर्चा आगम में की गई उस समय आलू हिन्दुस्तान अर्थात् भारत में था ही नहीं। यह विदेशी सब्जी है। और भी ऐसे बहुत से फल हैं जो अभक्ष्य होते हैं, पर वे भारत में नहीं होते थे अतः उनका उल्लेख अभक्ष्यों में नहीं गिनाया गया तथा पहले जैन जिन पदार्थों का सेवन ही नहीं करते थे। अतः उन्हें भी अष्ट मूलगुणों में नहीं गिनाया गया है।

बैंगन को भी नहीं खाना चाहिए; क्योंकि वह ऊपर से साफ दिखता है और अन्दर में बड़ी लट निकलती है। अतः जिसमें भी त्रस जीवों की संभावना हो, वे कोई भी पदार्थ धर्मात्माओं को खाने योग्य नहीं है।

ओला, घोरवड़ा (द्विदल) निशि भोजन बहुवीजा, बैंगन, सेंधान, पीपर, बड़, ऊमर, कटूम्बर, पाकरफल जो होय अजान। कन्दमूल माटी विष आमिस मधु माखन अरु मदिरापान, फल अति तुच्छ तुषार, चलितरस, जिनमत में बाईसबखान।

इन अभक्ष्यों में बैंगन एवं जमीकन्द का नाम है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि बैंगन व आलू का नाम नहीं है तथा इनके अतिरिक्त 22 प्रकार के अभक्ष्यों का वर्णन भी शास्त्रों में है, वे सभी त्रस जीवों की उत्पत्ति तथा बहुस्थावर जीवों की उत्पत्ति स्थान होने के कारण खाने योग्य नहीं है, अभक्ष्य हैं।

भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म का योगदान

इस लेख में पण्डित भारिल्ल लिखते हैं कि— "भारत विविध वर्गों, समाजों, सम्प्रदायों और जातियों का ऐसा वृहद बगीचा है, विविध धार्मिक, सामाजिक रीति-रिवाजों, पुरातन परम्पराओं की ऐसी विचित्र वाटिका है, जिसमें नाना संस्कृतियों के रंग-बिरंगे फूल खिलते रहे हैं, खिल रहे हैं और खिलते रहेंगे।

भारतीय जन-जीवन में धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में पुरातन परम्परागत मूलतः दो संस्कृतियों का बाहुल्य रहा है। एक श्रमण संस्कृति और दूसरी वैष्णव संस्कृति। श्रमण संस्कृति में वर्तमान में भारत में मात्र जैन संस्कृति अधिक फूल-फल रही है; क्योंकि इसके नैतिक मूल्य - 'अहिंसापरमोधर्मः' के सिद्धान्त पर आधारित हैं तथा जैनधर्म का मूलाधार अध्यात्म और अहिंसा है।

धार्मिक संस्कृतियाँ और सामाजिक संस्कृतियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। धार्मिक सिद्धान्त ही पूर्व परम्पराओं और आचार-विचार को संस्कारित करते हैं। ये परिष्कृत परम्परायें और आचार-विचार ही सभ्यता और संस्कृतियों के जनक हैं। ये सामाजिक संस्कृतियाँ और पारम्परिक रीति-रिवाज धार्मिक विचारों की, भावभूमि पर आधारित होते हैं। इस कारण इन्हें एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य एवं सामाजिक सत्य है कि जब दो भिन्न सामाजिक संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न जातियाँ अथवा भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वाले परिवार एक ही मुहल्ले में पास-पड़ोस में साथ-साथ रहते हैं तो वे एक दूसरे को प्रभावित किये बिना नहीं रहते। जैनों के मुहल्ले में रहने वाले जैनोत्तर समाज भी जैनों के आकर्षक धार्मिक एवं सामाजिक कार्यक्रमों में भाग लेने लगते हैं। जैनों के शुद्ध-सात्विक खान-पान और आचार-विचार से प्रभावित होकर दिन में खाने लगते हैं, पानी छानकर पीने लगते हैं। अभक्ष्य आहार एवं अनैतिक व्यवहार का भी त्याग कर देते हैं तथा ब्राह्मण के मुहल्ले में रहने वाले मुश्किल भाई दशहरा-दीवाली मनाने लगते हैं।

यह तो हुई संस्कृति, सभ्यता और पारम्परिक रीति-रिवाजों के उद्भव विकास की बात।

सांस्कृतिक प्रदेय -

यहां विचारणीय विषय यह है कि जैनधर्म का भारतीय संस्कृति को क्या योगदान है, क्या प्रदेय है। जैनधर्म न केवल जैन समाज तक सीमित है, बल्कि यह धर्म सार्वजनिक है, सार्वभौमिक और सार्वकालिक है। ऐसा कोई देश नहीं, ऐसा कोई काल नहीं, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो जैनधर्म के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष से प्रभावित न हो, सहमत न हो; क्योंकि जैनधर्म जैनदर्शन के चार महान स्तम्भों पर खड़ा है। वे चार स्तम्भ हैं- अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद और अपरिग्रह।

जैनों के आचरण में अहिंसा, विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और व्यवहार में अपरिग्रह का सिद्धान्त समाया हुआ है। जैनों की अहिंसा न केवल मानव के प्राणघात न करने तक ही सीमित है,

बल्कि किसी भी जीव को, प्राणी मात्र को न सताना, न दुःख देना तथा अपने आत्मा में भी किसी के प्रति राग—द्वेष न रखना अहिंसा है, क्योंकि झूठ बोलने से, चोरी आदि से भी दूसरों के प्राण पीड़ित होते हैं। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र देव ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में झूठ, चोरी और विषय भोग की सामग्री के अनुचित संग्रह को भी हिंसा पाप में ही शामिल करके इन सबके त्याग को अहिंसा का व्यापक स्वरूप समझाया है।

राजनैतिक प्रदेय -

हम इस अवसर पर भारत के उस आजादी के इतिहास को याद करें, जिसमें एकमात्र अहिंसा ने यह कमाल कर दिखाया। महात्मा गांधी ने जिस अहिंसा के अस्त्र से अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये, वह अहिंसा जैनधर्म की ही अहिंसा है।

इस तरह हम देखते हैं कि— महात्मा गांधी की वह अहिंसा, जवाहरलाल नेहरू के वे पंचशील के सिद्धान्त और महामना मदनमोहन मालवीय का वह नारा, जिसमें कहा गया था कि स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है। ये सब किसी न किसी रूप में जैनधर्म के ही प्रदेय हैं।

जैनधर्म न केवल नर से नारायण बनाने वाला दर्शन है, बल्कि वह तो पशु से परमात्मा बनाने वाला सिद्धान्त है। भगवान पार्श्वनाथ ने भगवान बनने की प्रक्रिया हाथी की पर्याय में प्रारम्भ की थी और भगवान महावीर ने सिंह की पर्याय में।

साहित्यिक प्रदेय -

किसी भी संस्कृति, सभ्यता और सिद्धान्तों का प्रचार—प्रसार करने का प्रबल साधन उसका सत्साहित्य होता है। जैनधर्म का भी आचार्यों द्वारा रचित अनेक भाषाओं में प्रचुर सत्साहित्य उपलब्ध है। यही कारण है कि जैनेत्तर पाठक भी इस साहित्य का प्रशंसक रहा है तथा हर संभव अपने आचरण में लाने का प्रयास भी करता ही है।

सामाजिक प्रदेय -

दान के क्षेत्र में भी जैन समाज सदैव अग्रणी रहा है। यह उदारता भी जैनों में अपने धर्म से ही सीखी है। यत्र—तत्र दान की प्रेरणा शास्त्र में (सत्साहित्य में) दी जाती रही है। उदाहरण—

दान चार परकार चार संघ को दीजिए।
धन बिजुरी उनहार, नर भव लाहो लीजिए।।

X X X

दान देय मन हरख विशषे, इह भव जस परभव सुख लेखे।

इस प्रकार जैनधर्म में धार्मिक प्रदेय, राजनैतिक प्रदेय एवं सामाजिक प्रदेय तथा साहित्यिक प्रदेय जैनदर्शन के बहुआयामी प्रदेयों के माध्यम से भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म का क्या योगदान है, संक्षेप में इसकी चर्चा की। - 'ऐसे ब्रया पाप किये' पृष्ठ संख्या 122 से उद्धृत लेखांश।

जैनशास्त्र के सरलीकरण का अभिनव प्रयोग

हरिवंश कथा - आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस लेख के लेखक दिगम्बर जैन नहीं हैं, जैसा कि उनके नाम से ही सिद्ध है। डॉ. धर्मेन्द्रसिंह 'गौतम', परन्तु उन्होंने हरिवंश कथा के बारे में जो चिन्तन किया है, वह अपूर्व है, अद्भुत है।

वे लिखते हैं कि- "पण्डित रतनचन्द भारिल्ल ने मात्र 29 सर्गों के माध्यम से ही हरिवंश का उद्भव व विकास दर्शाया है। इस पुस्तक में लेखक द्वारा कथा के माध्यम से जैनधर्म के प्रचार-प्रसार करने का सफल प्रयास किया है।

हरिवंश कथा में पर्याप्त रोचकता है। एक प्रकार से हम इसको अध्यात्म कथा भी कह सकते हैं।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल द्वारा प्रणीत प्रस्तुत कृति आज के समाज के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि समाज में आपसी कलह, कटुता, वैमनस्य, राग-द्वेष अपनी चरम सीमा पर हैं। ऐसे में इस आध्यात्मिक कथा को पढ़ने-सुनने से मानवीय विकास के साथ-साथ मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति को बल मिलेगा, जिससे मनुष्य के लिए अच्छा शुद्ध वातावरण मिलेगा।

मनुष्य चाहे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या जाति का हो, मोक्ष प्राप्त करने की भावना तो सभी की होती ही है। समीक्षा की दृष्टि से कहा

जाये तो हरिवंश कथा को पढ़ने-सुनने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चरित्र तीनों में वृद्धि होती है। इस कथा में कहीं-कहीं आध्यात्मिक और कर्मोदयजन्य सांसारिक दुःखों की हृदयों को हिला देने वाली मार्मिक चर्चा भी है।

वास्तव में यह ग्रन्थ मानव को भोगवादी प्रवृत्ति से रोकने एवं आत्म विकास और आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने में उपयोगी है। निश्चय ही यह कार्य जैन शास्त्र के सरलीकरण की दिशा में किया गया अभिनव प्रयोग है।

इस सम्बन्ध में डॉ. संजीवकुमार गोधा, जयपुर का चिन्तन है कि लेखक ने हरिवंश पुराण महासागर से हरिवंश कथा रूप अमृत निकाल कर हमारे सामने रख दिया है। यह कथा है तो प्रथमानुयोग की ही, परन्तु इसमें द्रव्यानुयोग व चरणानुयोग की छटा भी यत्र-तत्र बिखरी हुई है, जिसने इस ग्रन्थ को और भी अधिक रमणीय बना दिया है तथा साथ ही जैनदर्शन के अकर्त्तावाद, वस्तुस्वातंत्र्य, षट्कारक आदि सिद्धान्तों से भी भली-भांति परिचय कराया गया है। इसमें प्रसंगानुसार पात्रों को मोक्षमार्ग में लगाने के लिए मुनिराजों एवं गणधराचार्यों द्वारा जो वैराग्य प्रेरक, सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक उपदेश दिया है वह अपने आप में अद्भुत है।

पुण्य-पाप के उदयानुसार बनने वाली संयोग-वियोग की परिस्थितियां पाठक को हर परिस्थिति में साम्यभाव धारण करने की प्रेरणा देती है। उदाहरण के तौर पर तीन खण्ड के अधिपति, अनेक राजा जिनके अधीन रहते हों— ऐसे नारायण श्रीकृष्ण का जन्म जेल में हुआ, वहां कोई मंगल गीत गानेवाला भी नहीं था तथा मरण के समय वन में कोई पानी पिलानेवाला भी नहीं था। इसी तरह चारुदत्त, कौरव-पाण्डव, वसुदेव, प्रद्युम्नकुमार आदि अनेक पात्रों के वर्तमान एवं पूर्वभवों के प्रेरणादायक जीवनप्रसंगों की विचित्र घटनायें इस कृति में चित्रित हैं, जो हमें एक ओर पाप के फल को बचाकर पाप नहीं करने की प्रेरणा देती हैं तो दूसरी ओर पाप के उदय में विचलित नहीं होने का बल भी प्रदान करती है।

चारुदत्त, कीचक एवं शंभुकुमार जैसे घोर पाप क्रियाओं में लिप्त

रहनेवाले जीवों को उसी भव में अन्त समय में वैराग्य परिणति को देखकर अनंत पुरुषार्थ जाग्रत होता है कि जब ऐसे-ऐसे पाप करनेवाले जीव भी आत्मकल्याण कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं तो फिर हमारे मोक्षमार्ग प्रारम्भ होने में कहां अड़चन है?

ग्रन्थ में नेमिनाथस्वामी की बारात का प्रसंग बताते समय राजाओं के लिए मांसाहार बनाने हेतु पशुओं को बांध कर रखने की प्रचलित बात को बहुत ही सुन्दर तर्कों के माध्यम से असत्य एवं अफवाह सिद्ध किया है; वास्तव में अहिंसा का उपदेश देनेवाले तथा कुछ ही वर्षों में तीर्थंकर बननेवाले नेमिनाथस्वामी की बारात में मांसाहार बनाने एवं पशुओं का वध करने की बात ठीक भी नहीं लगती है।

नेमिनाथस्वामी की बारात के वापस लौट जाने के पश्चात् राजमती (राजुल) के अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व का चित्रण भी सुन्दर ढंग से किया गया है। वहाँ राजुल को रोती-बिलखती-बेचारी न बताकर उसका अहो भाग्य! महाभाग्य! बताना भी आपके चिन्तनशीलता की अद्भुत मिसाल है। जहाँ नेमिनाथ के वैराग्य का प्रसंग हृदय में संसार, शरीर एवं भोगों में उदासीनता दिलाता है, वहीं राजुल का आदर्श जीवन, उसका वैराग्य एवं सतीत्व भी हृदय पर अमिट छाप छोड़ता है।

सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करनेवाले प्रसंग भी इसमें मुखरित हुए हैं। यथा- नारद एवं पर्वत द्वारा 'अज' शब्द के अर्थ हेतु किये गये विवाद के प्रसंग से सामान्यजनों एवं विद्वानों को भी पूर्वाचार्यों के अनुसार शास्त्रों का सम्यक् अर्थ करने की प्रेरणा मिलती है। थोड़ी बहुत भी असावधानी से किया गया शास्त्र का अर्थ भविष्य में कुरीति को जन्म देने में समर्थ हो सकता है; अतः अध्यात्म की आड़ लेकर लोकमूढताओं को बढ़ावा देना उचित नहीं है।

इसीतरह अनेक स्थानों पर नैतिक एवं सदाचार प्रेरक प्रसंगों से जनकल्याण एवं समाज सुधार की भावना भी मुखरित होती है, जो सामान्य पाठकों के जीवन की दिशा को बदल देने में समर्थ है।

लेख - 'रत्नदीप से साभार

निबन्ध : अनेकान्त एवं स्याद्वाद : सामान्य स्वरूप

(क) अनेकान्त का सामान्य विवेचन - अनेक + अन्त = अनेकान्त। अनेक = एक से अधिक; अन्त = धर्म या गुण। प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणात्मक एवं अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु में ऐसे अनेक धर्म हैं, जो आपस में विरोधी प्रतिभासित होते हैं, परन्तु हैं अविरोधी। इस स्थिति में अनेकान्त की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है— "परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में एकसाथ होना, अनेकान्त है।"

न्यायदीपिका में अनेकान्त की परिभाषा इस प्रकार है—

"अनेके अन्ता धर्माः—सामान्यविशेषपर्यायगुणा यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः।

अर्थ — जिसमें सामान्य—विशेष, पर्याय—गुणरूप अनेक अन्त या धर्म हों, वह अनेकान्त है।

वस्तु के अनेकान्तस्वरूप को समझानेवाली सापेक्ष कथन—पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं।

प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्म—युगल प्रतीत होते हैं, जिन्हें 'स्याद्वाद' अपनी सापेक्ष शैली में प्रतिपादित करता है।

आचार्य विद्यानन्दजी ने वर्तमान व्यवस्था में जैनदर्शन के चार सिद्धान्तों को मूल स्तम्भ माना है— विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद, जीवन में अहिंसा एवं समाज में अपरिग्रह हो तो समाज एवं देश आदर्शमय हो जाएगा।

हम वर्तमान में अनेकान्त को समन्वय, सामंजस्य, समझौतावाद के तौर पर उपयोग करने लगे हैं, परन्तु यह सही नहीं है; क्योंकि समझौता दोनों पक्षों को संभालते हुए होता है। इसमें सत्य पक्ष वाले को भी झुकना पड़ता है तथा असत्य पक्ष वाले को भी लाभ मिलता है, इसमें न्याय की मुख्यता नहीं है। जबकि अनेकान्त में प्रत्येक पक्ष वस्तु का स्वभाव है, इसलिए उसमें पूर्ण न्याय है, यही स्थिति स्याद्वाद की है।

वस्तु स्वरूप में धर्म में समझ होती है, समझौता नहीं।

कलयुगी लोकतंत्र में सिद्धान्तों की व्याख्याएँ भी राजनैतिक हो

गई हैं। अपरिग्रहवाद को आर्थिक सुधार से जोड़ना ठीक नहीं है।

'णमो लोए सव्व साहूणं'— का अर्थ वर्तमान में जितने भी धर्म, पंथ हैं, उनके साधुओं, गुरुओं, पीर—पैगम्बर, फादर आदि को एक जैसा नमस्कार योग्य मानना, कितना सार्थक है, यह विचारणीय है, क्योंकि उनमें सड़कों पर भीख मांगनेवाले भी शामिल हैं।

प्रायः स्याद्वाद को समझने में बड़ी गलती होती है। कई दिग्गज विद्वान् भी इसकी विवक्षा को न समझने के कारण विरोध करते नजर आते हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के दर्शनशास्त्र के भूतपूर्व प्राध्यापक श्री फणिभूषण अधिकारी ने लिखा है—

“जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहां तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं है..... ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।

हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

“प्राचीन दर्जे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े—बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते हैं कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है।”

श्री महामहोपाध्याय सत्य सम्प्रदायाचार्य पण्डित स्वामी राममिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, वाराणसी लिखते हैं—

“मैं कहां तक कहूं, बड़े—बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खंडन किया है, वह ऐसा किया है, जिसे देख हँसी आती है। स्याद्वाद जैनधर्म का अमोघ किला है, उसके अन्दर वादी—प्रतिवादियों के मायामयी गोले प्रवेश नहीं कर सकते। जैनधर्म के प्राचीन सिद्धान्त भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।”

संस्कृत के उद्भट विद्वान डॉ. गंगानाथ झा के विचार भी द्रष्टव्य हैं—

“जब मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है, तब से मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है, जिसे

वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा और जो कुछ अब तक जैनधर्म को जान सका हूँ, उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्म को उनके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।”

श्री प्रो. आनन्द शंकरबाबू भाई ध्रुव ने स्याद्धाद को संशयवाद कहने का निराकरण किया है।

इस प्रकार अनेकान्त एवं स्याद्धाद का प्रयोग बड़ी सावधानी एवं समझपूर्वक किया जाना चाहिए; क्योंकि गलत प्रयोग करने से यह स्व मस्तक का छेद कर देता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे अत्यन्त पैनी धार वाला चक्र कहा है, जो दुर्विदग्धजन हैं, यह पैनी धार वाला चक्र उनके मस्तक को खण्डित कर देता है। वे कहते हैं—

“अत्यन्तनिशितधारं, दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं, मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्।।”

जिनेन्द्र भगवान का स्याद्धादरूपी नयचक्र अत्यन्तपैनी धार वाला और दुःसाध्य हैं। जिस प्रकार यह दुर्विदग्ध मिथ्याज्ञानी पुरुषों के मस्तक को तुरन्त ही खण्ड-खण्ड कर देता है।” उसी प्रकार यह इसे धारण करने वाले का मस्तक भी काट सकता है, इसलिए इसे अत्यन्त सावधानी से चलाया जाना चाहिए। — अप्रकाशित लेख।

धार्मिक एवं सामाजिक निबंध साहित्य : एक अनुशीलन

‘नित्य देवदर्शन क्यों’ इस निबन्ध में पण्डित रतनचन्द्रजी लिखते हैं कि — आज का अधिकांश पढ़ा-लिखा वर्ग भौतिकवादी व भोगवादी होता जा रहा है, इसमें ही उसे सभ्यता व आधुनिकता दिखाई देती है। सवरे उठने से पहले बिना मुँह धोए उन्हें बेड-टी (बिस्तर पर ही चाय) चाहिए और बिना स्नान किये हैवी नास्ता। फिर टी.वी., न्यूज पेपर। यदि समय हुआ तो मैगजीन (पत्र-पत्रिकाएँ) यही सब उनका स्वाध्याय है। शेविंग, स्नानादि नित्य कर्मों में भले ही घंटों बिता दें, परन्तु बाथरूम से निकलकर सीधे किचिन की टेबल पर ही जा बिराजेंगे। मानो मन्दिर से तो उन्हें कोई सरोकार ही नहीं। ‘देवदर्शन’ तो मानो उनकी दिनचर्या में शामिल ही नहीं है।

काश! किसी आगंतुक ने या मेहमान ने इस कारण दूध नाश्ता नहीं किया कि अभी मन्दिर नहीं गये तो बेचारा वह व्यक्ति उन आधुनिक सभ्य महाशय की नजरों में एकदम बेकबर्ड (पुरातनपन्थी) असभ्य किंवा मूर्ख नजर आता है।

क्या करें ऐसी सभ्यता का? क्या कहें उन फारवर्ड (आधुनिक) लोगों से? कैसे समझायें उन पढ़े-लिखे समझदारों को? जो स्वयं को समझदार पढ़ा-लिखा, सभ्य व आधुनिक मान बैठे हैं और इस सभ्यता की आड़ में उन महान आदर्शों को, जिनके दर्शनों से, जिनके स्मरण अथवा जिनकी प्रेरणा से पापी भी पुण्यात्मा बन जाते हैं। पामर प्राणी परमात्मा तक बन जाते हैं। वे हमारे आदर्श हैं वीतरागी देव, वीतरागता के पोषक शास्त्र तथा स्याद्वाद व अनेकान्त के दिग्दर्शक गुरु।

यह पूरा लेख 9 पृष्ठ का है, जो मूलतः पठनीय है। मात्र सारांश यहां दिया है। — ऐसे क्या पाप किए पृष्ठ 18 से 26 धर्म परिभाषा नहीं प्रयोग है

प्रस्तुत निबन्ध में कहा गया है कि — 'किसी भी विषय को व्यक्त करने का माध्यम एक मात्र भाषा ही है। जब किसी भी विषयवस्तु को या उसके भाव को व्यक्त करने के लिए उसे सुव्यवस्थित, निर्दोष एवं सुष्ठु भाषा का स्वरूप प्रदान किया जाता है तो उसे ही परिभाषा कहते हैं।

अध्ययन/अध्यापन के सभी क्षेत्रों में अपने कुछ पारिभाषिक शब्द होते हैं, कुछ परिभाषायें होती हैं, जो अपने निश्चित व सीमित अर्थों से जुड़ी होती हैं। उनका मनमाने ढंग से अर्थ नहीं किया जा सकता। जैसे कि 'दर्शन' शब्द का अवलोकन भी है और श्रद्धान भी है किन्तु जैनदर्शन या मोक्षमार्ग के प्रकरण में सम्यग्दर्शन का अर्थ अवलोकन न होकर तत्त्वश्रद्धान और आत्मानुभूति ही होता है।

इसी प्रकार जैनधर्म के क्षेत्र में अनेक पारिभाषिक शब्द व परिभाषायें निश्चित हैं जिनके माध्यम से धर्म का स्वरूप ज्ञात किया जाता है, किन्तु मात्र परिभाषायें याद कर लेना धर्म नहीं है, बल्कि उन

परिभाषाओं में जो भाव व्यक्त किया गया है, जो कुछ कहा गया है, उसका जीवन में प्रयोग करना धर्म है।

उदाहरणार्थ— हमसे कोई पूछे कि धर्म क्या है? तो आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में हमें कहना होगा कि— “यः सत्त्वान् उत्तमे सुखे धरति सः धर्मः” अर्थात् जो प्राणियों को संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख प्राप्त कराये वह धर्म है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यही कहा है कि “वत्थु सहावो धम्मो” अर्थात् वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं।

इसप्रकार जो भी परिभाषायें हमने शास्त्रों में पढ़ी हैं, उन सभी में प्रयोगात्मक स्वरूप को ही प्रकट किया गया है। अतः हमें भी उनके प्रयोगात्मक स्वरूप पर ध्यान देना चाहिए।

इसी तरह अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद, नय प्रमाण, निक्षेपादि तथा द्रव्य—गुण—पर्याय, साततत्त्व, नवपदार्थ तथा गुणस्थान, मार्गणास्थान, प्राण, पर्याप्ति आदि सभी सिद्धान्तों की भी हम सूक्ष्म से सूक्ष्म चर्चा कर सकते हैं, बड़ी—बड़ी धर्म—सभाओं को भी सम्बोधित करना कोई बड़ी बात नहीं है; किन्तु आत्मानुभूति के अभाव में ये सब वाग्‌विलास ही हैं, क्योंकि धर्म का शुभारम्भ भेदविज्ञान और स्वानुभूति से ही होता है। स्वानुभूति ही मोक्षमार्ग का प्रथम प्रयोग है और इसके बिना धर्म की परिभाषाएं कोई अर्थ नहीं रखतीं।

पण्डित टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अध्याय में स्पष्ट लिखा है— “जिन शास्त्रों से जीव के त्रसस्थावरादि रूप तथा गुणस्थान, मार्गणादि रूप भेदों को जानता है, अजीव के पुद्गलादि भेदों को तथा उनके वर्णादि विशेषों को जानता है; परन्तु अध्यात्म शास्त्रों में भेदविज्ञान को कारणभूत व वीतराग दशा होने को कारणभूत जैसा निरूपण किया है वैसा नहीं जानता।

किसी प्रसंगवश उसी प्रकार जानना भी हो जावे तब शास्त्रानुसार जान तो लेता है; परन्तु अपने को आप रूप जानकर पर का अंश भी अपने में न मिलाना और अपना अंश भी पर में न मिलाना—ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है। जैसे अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्यायबुद्धि से जानपने में व वर्णादि में अहंबुद्धि धारण करते हैं, उसी प्रकार यह

भी आत्माश्रित ज्ञानादि व शरीराश्रित उपदेश. उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है। कभी शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है परन्तु अंतरंग निर्धार रूप श्रद्धान नहीं है अतः इसे सम्यक्त्वी नहीं कहते।”

इससे स्पष्ट है कि धर्म मात्र परिभाषाओं में ही सीमित नहीं, बल्कि वस्तु स्वरूप की सही प्रतीतिपूर्वक एक, अभेद, अखण्ड त्रैकालिक, शुद्ध, ज्ञायक स्वभावी निजात्म तत्त्व को जानने में, पहचानने में, उसी में जम जाने, समा जाने में हैं। साथ ही साथ अविनाभावीरूप से रहने वाला बाह्याचार भी उसमें आता ही है।

दूसरी ओर जो मिथ्यादृष्टि ग्यारह अंग के पाठी तक होते हैं, क्या उन्हें ये सब परिभाषाएं नहीं आती होगी? क्यों नहीं, अवश्य आती है। तो फिर आत्मानुभूति के बिना वे कोरे के कोरे क्यों रह जाते हैं? उन्हें धर्म लाभ क्यों नहीं होता? इससे भी स्पष्ट है कि धर्म परिभाषाओं में नहीं, प्रयोग में है।

नवीन शोध और संभावनाओं के संदर्भ में

विश्व शांति में जैनधर्म का योगदान

जैनधर्म के अनुसार तीनों लोकों में जहां भी जीवादि छहों द्रव्य रहते हैं, उन सभी का एक नाम विश्व है। विश्व की परिभाषा भी यही है कि “छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। विश्व का अर्थ केवल कोई स्थान विशेष नहीं है, बल्कि सर्व जीवादि छहों द्रव्य के अस्तित्व से है। विश्व में जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त हैं, धर्म द्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है, आकाश द्रव्य एक हैं तथा कालद्रव्य असंख्य है।”

जीवद्रव्य चेतन है, शेष पांच द्रव्य अचेतन हैं। अचेतन द्रव्यों में तो शान्ति-अशान्ति होती ही नहीं है। एक मात्र जीवद्रव्य में शान्ति व अशान्ति होती है। अतः यह विचारणीय है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शोध और संभावनाओं के आधार पर जीवों में शान्ति कैसे संभव है? वे सुख-शान्ति से कैसे रह सकते हैं।

लोक में तो मात्र मानवों में ही शांति-अशांति की बात कही जाती है, लोक मात्र मानवों तक की ही बात करता है, जबकि जीवमात्र सुख-दुख का अनुभव करते हैं। अन्य जीवों में शांति-अशांति रहे,

लोक को इससे कोई मतलब नहीं, तभी तो लोक व अधिकांश मनुष्य पंचेन्द्रिय प्राणियों तक को मारकर खा जाते हैं। वे उनके अस्तित्व को ही नहीं गिनते, जबकि वे भी हम-तुम जैसे ही जीव हैं। उन्हें भी सुख-दुःख होता है, वे भी सुखी होना चाहते हैं।

लोक में सुख से रहने का अर्थ भी मात्र रोटी-कपड़ा और मकान तक ही सीमित है, पर वास्तव में क्या मात्र इतने से ही सब जीव सुखी हो जायेंगे? एतदर्थ वर्तमान परिप्रेक्ष्य में क्या मात्र मानवों में ही नवीन शोध और संभावनाओं की खोज पर्याप्त होगी?

वस्तुतः बात यह है कि जगत में किसी भी सुख सामग्री की या सुखद वस्तुओं की कमी नहीं है। लोक में सभी कुछ भरपूर है, परन्तु सभी जीवों को अपने-अपने पुण्य-पाप के अनुसार ही तो मिलेगा। हम दिन-रात पाप भावों में आकंट निमग्न रहें और पुण्य के फल की वांछा करें तो यह कैसे संभव होगा? फल तो अपनी अपनी करनी के अनुसार ही मिलता है न!

तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है, बहु आरंभ एवं बहु परिग्रह के भाव से बचना होगा? क्योंकि बहु आरंभ व परिग्रह नरक गति का कारण है, जहां भूख-प्यास व सर्दी, गर्मी आदि के भयंकर दुःख हैं। मायाचार तिर्यचायु का कारण है। तिर्यचगति के दुःख हम स्वयं देखते हैं। अतः यदि नरक में नहीं जाना तो बहु आरंभ व परिग्रह के पाप से बचें, तिर्यचगति में न जाना हों तो मायाचार न करें। ये दोनों गतियां अति दुःखद हैं?

मानवों को सुखी रहने के लिए यही सच्ची शोध है कि हम पुण्य कार्य करें, परोपकार करें, पापों से डरें, सही आचरण करें तो हमें अवश्य ही पुण्य के फल में लौकिक अनुकूलता और अलौकिक सुख-शान्ति प्राप्त होगी।

अपने-अपने पुण्य-पाप के अनुसार ही संयोग मिलते हैं। न केवल जैनधर्म के अनुसार, बल्कि सभी धर्मों के अनुसार जीवों को सुख-दुःख के संयोग उनकी करनी के अनुसार ही मिलते हैं। अतः यदि हम सत्कर्म करें तो निःसंदेह हम सुखी रह सकते हैं। सुखी होने के अन्य सब प्रयत्न निरर्थक हैं।

मानवों के सिवाय अन्य गतियों में तो सुख-दुःख (भोगों) की ही प्रधानता है, नरकों या स्वर्गों में तथा पशु गति में सत्कर्म करने के अवसरों को मुख्यता नहीं है, वहां तो कर्मफल भोगने की ही प्रमुखता है। अतः मानवों को ही कल्याण करने की बात कही जाती है।

एतदर्थ हम मानवों को किसी को भी सताना नहीं चाहिए, अपने स्वार्थ के लिए किसी को धोखा नहीं देना चाहिए। अपने क्षुद्र स्वाद के लिए किसी भी प्राणी का वध नहीं करना चाहिए। पांचों पापों से बचे रहने का प्रयत्न करना चाहिए। एतदर्थ सदाचारी और संयमी जीवन जीना चाहिए।

लोग जरा से स्वाद और स्वास्थ्य के लोभ में पंचेन्द्रिय प्राणियों तक का घात करते देखे जाते हैं। ये सब पाप के परिणाम हैं, दुख के कारण हैं। मांसाहारी का जीवन कभी सुखी नहीं रहता, क्योंकि मांस प्राणीघात के बिना प्राप्त नहीं होता तथा प्राणी घात हिंसा महापाप है।

नवीन शोध और संभावनाओं के नाम पर दूसरों के दोष ढूंढना, अपने दोषों को स्वीकार न करना तथा परिस्थितियों का बहाना बनाकर अपने दोष दूसरों का माथे मढ़ना व स्वयं को निर्दोष बताना भी निरर्थक है। सभी नवीन शोध और संभावनायें केवल पुद्गल में ही होती हैं, जिनमें सुख-शान्ति होती ही नहीं है।

पशु-पक्षी खाद्य पदार्थ नहीं हैं। मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी है। मांस उसके अनुकूल नहीं है। अतः धर्म की दृष्टि से देखें तो हमारा ही दोष है; हमें अहिंसक जीवन जीना चाहिए, सत्य का आचरण करना चाहिए, चोरी और व्यभिचार तथा अनावश्यक अधिक धन संग्रह से बचना चाहिए। ये सब पाप भाव हैं। इनसे उसके फल में पाप बंध होगा तो दुःख ही होगा। सुख-शान्ति कैसे प्राप्त होगी?

एक बार कुछ कृषक बन्धु महर्षि व्यास के पास पहुंचे और उनसे प्रार्थना की कि हम लोग अनपढ़ किसान लोग हैं। 18 पुराणों को तो पढ़ नहीं सकते। हमें तो धर्म करने का कोई ऐसा सरल सा उपाय बता दीजिए, जिससे हमारा उद्धार हो सके। तो महर्षि व्यास ने कहा -

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।

परोपकाराः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥1॥

अठारह पुराणों का सार मात्र इतना है कि— परोपकार करने से पुण्य होता है और दूसरों को दुःख देने से पाप होता है। अतः हम सबको परोपकार अर्थात् पुण्यकार्य करना चाहिए और हिंसा, झूठ आदि पांचों पापों से बचना चाहिए। ऐसा करने से ही तुम्हारा कल्याण होगा। लोक में परोपकार से बड़ा कोई धर्म नहीं है और परपीड़ा देने से बड़ा कोई पाप नहीं है।

महर्षि व्यास द्वारा उन किसानों को दी गई शिक्षा से उत्साहित होकर कुछ जैन भी अपने गुरु आचार्य अमृतचन्द्र के पास पहुंचे और उन्होंने कहा— हमें भी ग्यारह अंग और चौदह पूर्व पढ़ने का समय कहां है?

आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥44॥

पुरुषार्थसिद्धिउपाय

जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म है— आत्मा में राग—द्वेषादि भावों का पैदा होना ही हिंसा है तथा हिंसा सबसे बड़ा पाप है और आत्मा के राग—द्वेषादि भावों का पैदा न होना ही अहिंसा है और अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है।

अतः तुम राग—द्वेष से बचो एवं अहिंसक जीव जिओ। अपनी व किसी भी जीव की हिंसा मत करो। तुम्हारा कल्याण होगा। आत्मघात भी महापाप है, अतः आत्मघात भी नहीं करें।

न्यायशास्त्र के प्रतिष्ठापक एवं चरणानुयोग के पुरसकर्ता आचार्य समन्तभद्र ने तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पांच अणुव्रतों को अष्टमूलगुणों में ही शामिल करके पांच अणुव्रतों से ही जैनधर्म का प्रारंभ किया है। वे लिखते हैं—

मद्य—मास—मधु—त्यागैः सहाणुव्रतपंचकम् ।

अष्टौ मूलगुणानाहुः, गृहिणां श्रमणोत्तमः ॥

उक्त पद्य में श्रावक को सम्यग्दर्शन के पूर्व अष्टमूलगुणों का पालन करना आवश्यक कहा गया है जिनमें कि मद्य मांस और मधु के त्याग के साथ स्थूल रूप से पांच अणुव्रतों का पालन करना भी अनिवार्य कहा है—

अतः श्रावकों को उक्त आठ मूल गुणों का पालन करना तो अनिवार्य है ही, साथ ही कालक्रम से जैसे-जैसे लोगों का शिथिलाचार बढ़ा तो इन्हीं आठ मूल गुणों में मद्य, मांस, मधु के साथ अनछने पानी का त्याग, रात्रि में भोजन का त्याग एवं पांच उदम्बर फलों का त्याग आदि को भी शामिल करके आठ मूलगुणों की संख्या को कायम रखा है।

मानवों के सिवाय अन्य गतियों में तो सुख-दुःख भोगने की ही प्रधानता है। मात्र मनुष्य गति ऐसी है, जिसमें यदि हम सम्यक् पुरुषार्थ करें तो भव का अभाव भी कर सकते हैं, जब तक संसार में रहना पड़े तो धर्म का स्वरूप समझकर तदनुसार आचरण करके संसार अवस्था में भी सुखपूर्वक जीवन जी सकते हैं। एतदर्थ हम अपने पूर्व दुराग्रहों को त्याग कर जो वस्तु का सत्य स्वरूप है, उसे अपनाएं, अहिंसामय जीवन जिएं, सत्य को अपनाएं, अनेकान्त एवं स्याद्वाद का स्वरूप समझें। मिथ्यात्व का वमन करें, कषायों का शमन करें, अहिंसक जीवन जीएं—ये ही सब सुखी होने के उपाय हैं।

अध्यात्म रसिक कविवर दौलतरामजी ने अपनी छहढाला कृति में यह कहा है कि—

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।

तोरि सकल जग दंदफंद निज आतम ध्याओ।।

तथा एक भजन में कहा है कि —

“कोटि ग्रन्थ को सार यही है, ये ही जिनवाणी उचरो है।

दौल ध्याय अपने आतम को मुक्ति रमा तोय वेग बरे है।”

एक स्तुति में पण्डित दौलतरामजी ने यह भी कहा है—

“आतम के अहित विषय—कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।

मैं रहूं आप में आपलीन, सो करहु होउं ज्यों निजाधीन।।”

इत्यलं, किमधिकं विज्ञेषु। — ऐसे क्या पाप किए कृति से।

पद्य साहित्य

रमणीय अर्थ के प्रतिपादक पद्य शब्द काव्य हैं। पद्य में शब्द और अर्थ की प्रमुखता के साथ-साथ शब्द गर्भित सौन्दर्य, नीति एवं हित युक्त समन्वय भी होता है। यह प्रकृति की रमणीयता को लिए हुए आनन्द की अनुभूति भी कराता है। पद्यकाव्य जीवनप्रकृति का अनन्तदर्शन है।

काव्य की अनुभूति कोई भावुकता जन्य स्फूर्ति नहीं है और न कोई आध्यात्मिकता है, अपितु अखण्ड मानव जीवन के व्यक्तित्व की अनुभूति है।

उपर्युक्त परिभाषा के संदर्भ में हम जब पण्डित रतनचन्द्रजी भारिल्ल के पद्य साहित्य को देखते हैं तो उसमें रमणीयता तो है ही, साथ ही साथ उसमें शब्दों की और अर्थ की प्रमुखता के साथ-साथ शब्दों में सौंदर्य नीति और हित की भावना भी निहित प्रतीत होती है। समन्वय की सुगंध भी यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरी होती है, फैली होती है।

प्रकृति की रमणीयता तो अपनी छटा बिखेरती ही है तथा अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति भी होती है। एतदर्थ हम सर्वप्रथम उनके गद्यात्मक पद्य काव्य को ही देखें तो उसमें सर्वत्र ही उपर्युक्त भावना दिखाई देगी।

उदाहरणार्थ 'नींव का पत्थर' आत्मकथ्य में वे कहते हैं कि—

जिनका संदेश देते आये तीर्थकर,
लिखते आये हैं जिसे समयसारादि ग्रन्थों में—
आचार्य कुन्दकुन्द से मुनीश्वर;
कहान गुरु ने फैलाया है जिसे देश-देशान्तर,
वह वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त ही है—
मुक्ति महल के नींव का पत्थर ॥१॥

लेखक ने बताया है कि प्रस्तुत छन्द में तीर्थकर के संदेश को आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि ग्रन्थों के माध्यम से तथा कहान गुरु के प्रवचनों से जो संदेश फैला है, वह वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त ही वस्तुतः 'मुक्तिमहल के नींव का पत्थर' है।

इसी प्रकार लेखक ने उपर्युक्त संदर्भ में पांच छन्दों द्वारा 'नीव के पत्थर' नामक पुस्तक का भाव समेटने का सफल प्रयत्न किया है। अन्य पुस्तकों के प्रारम्भ में भी ऐसा ही प्रयोग किया है। उस सम्पूर्ण गद्य-पद्य साहित्य को इस शोध-प्रबन्ध ने एक स्वतंत्र अध्याय में प्रस्तुत किया है।

दो हजार वर्ष पूर्व में हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा प्राकृतभाषा में लिखे पंचास्तिकाय ग्रन्थ की मूल गाथाओं का अनुवाद भी हिन्दी पद्य में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा किया गया है। नमूने के तौर पर यहां कुछ गाथाओं का अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है -

पंचास्तिकाय के कुछ छन्द

पंचास्तिकाय समूह को ही, समय जिनवर ने कहा।

यह समय जिसमें वर्तता, वह लोक शेष अलोक है।।3।।

आकाश पुद्गल जीव धर्म अधर्म ये सब काय हैं।

ये हैं नियत अस्तित्वमय अरु अणुमहान अनन्य हैं।।4।।

अनन्यपन धारण करें जो विविध गुण पर्याय से।

उन अस्तिकायों से अरे त्रैलोक यह निष्पन्न है।।5।।

त्रिकालभावी परिणमित होते हुए भी नित्य जो।

वे पंच अस्तिकाय वर्तनलिंग सह षट् द्रव्य हैं।।6।।

परस्पर मिलते रहें अरु परस्पर अवकाश दें।

जल-दूध वत् मिलते हुए छोड़े न स्व-स्व भाव को।।7।।

सत्ता जनम-लय-ध्रौव्यमय अर एक सप्रतिपक्ष है।

सर्वार्थ थित सविश्वरूप-रु अनन्त पर्ययवंत है।।8।।

जो द्रवित हो अर प्राप्त हो सद्भाव पर्ययरूप में।

अनन्य सत्ता से सदा ही वस्तुतः वह द्रव्य है।।9।।

'तीर्थकर स्तवन' नाम से 24 तीर्थकरों की स्तुति भी पण्डित भारिल्लजी की पद्य कृतियां हैं। तीर्थकर स्तुति के भी कुछ छन्द प्रस्तुत हैं -

शत इन्द्रवन्दित जगतहितकर निर्मल मधुर जिनके वचन।

अनंत गुणमय भवजयी, जिननाथको शत्-शत् नमन।।1।।

सर्वज्ञ भाषित भवनिवारक, मुक्ति पथ के हेतु जो।

अजित जिन को नमन कर मैं, कहूँ तुम उनको सुनो।।2।।

साहित्य साधना की बानगी - प्रस्तुत आत्मकथ्य सभी उपन्यासों के प्रारम्भ में तो हैं ही, उनके अन्य निबंधों में भी हैं, इनमें उन्होंने लगभग पूरी पुस्तक की विषयवस्तु का सार देने का प्रयत्न किया है। इससे पाठकों को पूरी पुस्तक पढ़ने की प्रेरणा मिल जाती है।

- | | | |
|-----------------------------|---|----------------|
| 1. विदाई की वेला | - | उपन्यास |
| 2. इन भावों का फल क्या होगा | - | उपन्यास |
| 3. नींव का पत्थर | - | उपन्यास |
| 4. सुखी जीवन | - | उपन्यास |
| 5. संस्कार | - | उपन्यास |
| 6. ये तो सोचा ही नहीं | - | उपन्यास |
| 7. जान रहा हूँ देख रहा हूँ | - | कहानी संग्रह |
| 8. ये तो सोचा ही नहीं | - | 21 निबन्ध |
| 9. शलाका पुरुष भाग-1 | - | पौराणिक कथाएं |
| 10. शलाका पुरुष भाग-2 | - | पौराणिक कथाएं |
| 11. हरिवंश कथा | - | पौराणिक कथायें |

उक्त छह उपन्यासों के प्रारम्भ में तथा जान दे रहा हूँ कहानी संग्रह और निबंधसंग्रह के आरम्भ में एवं तीनों प्रथमानुयोग के ग्रन्थ इसतरह 12 पुस्तकों के प्रारम्भ में उक्त आत्मकथ्य लिखे हैं, जिन्हें शोधार्थी पाठकों के लिए शोध प्रबन्ध के पद्य विभाग में दिये जा रहे हैं।

इन सभी आत्मकथ्यों में सम्बन्धित पुस्तक की विषयवस्तु देने का प्रयत्न इसलिए किया है, ताकि पाठकों को पूरी पुस्तक पढ़ने की प्रेरणा मिले, जिज्ञासा जगे।

आत्मकथ्य : ये कहानियाँ केवल कहानियाँ नहीं.....

ये कहानियाँ केवल कहानियाँ नहीं हैं,
ये मात्रमनोरंजन की साधन भी नहीं हैं,
कथाशैली पाठकों को प्रिय होने से-
कहानियों को मात्र माध्यम बनाया है।।

X X X
और इनके माध्यम से पाठकों को-
अध्यात्म का अमृतपान कराया है।

प्रत्येक कहानी ऐसा कुछ कहती नजर आयेगी;
जो पाठकों को सन्मार्ग दिखायेगी ॥

X X X

'जान रहा हूँ देख रहा हूँ'
ज्ञाता-द्रष्टा रहने का संदेश देती है।
'ऐसे क्या पाप किए' अपने-
आर्त-रौद्रभावों से परिचय कराती है ॥

X X X

'परिणामों की विचित्रता' चोर से-
भगवान बनने का इतिहास बताती है,
'स्वर्गवास हू नीको नाही' स्वर्ग के लोभियों को
वहां की दुःखद स्थिति का ज्ञान कराती है।

X X X

इसी तरह 'पूजन और प्रवचन'
पूजन से प्रवचन सुनने को श्रेष्ठ बताती है।
'पहले मुनि या मुनीम' मुनि बनने से पहले-
भेदज्ञान करने का सबक सिखाती है।

X X X

'मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं',
दुर्व्यसनों से बचाती है,
सदाचरण करना सिखाती है,
ऊँच-नीच का कृत्रिम भेद मिटाती है ॥

X X X

शेष चार कहानियां भी-
पापों से मुक्त करातीं, मान से मुक्ति दिलातीं।
चारों अनुयोगों का ज्ञान करातीं हैं-
और अपने स्वरूप की पहचान कराती हैं ॥

X X X

एक बार पढ़कर देखो तो सही-
बार-बार पढ़ोगे और दूसरों को पढ़ाओगे।
अमृत पान करोगे, और घर-घर पहुंचाकर-
सातिशय पुण्य कमाओगे, शीघ्र मुक्ति पद पाओगे ॥

पुस्तकों के प्रारम्भ में आत्मकथ्यों में गद्य काव्य के माध्यम से जो कृतियों के सारांश दिये हैं। उन्हें ही यहाँ प्रस्तुत किया है।

आत्मकथ्य : सुखी जीवन की कला

मानव जीवन, जैन कुल,
समयसार सा शास्त्र और
क्षयोपशम, देशना, विशुद्धिलब्धि
पाकर भी—

यदि नहीं सीख पाये सुखी जीवन की कला
और नहीं टाल पाये आर्त—रौद्र ध्यान की बला
तो निश्चित समझो! यों ही चलता रहेगा,
दुःखी—जीवन का सिलसिला

X X X

कहान से महान सत्पुरुष के
समयसार पर हुए मार्मिक प्रवचन
और परमागमों पर हुए सूक्ष्म अनुशीलन
को पढ़कर भी—

यदि हम नहीं पा सके समग्नान कला,
नहीं मेट पाये मिथ्यात्व का जल—जला
तो आप ही सोचो!

कैसे होगा आत्मा का भला?

वस्तुस्वातंत्र्य, निमित्तोपादन और
सर्वज्ञता के संदर्भ में क्रमबद्धपर्याय जैसे
पतित पावन जैन सिद्धान्तों को
सुनकर भी—

जो नहीं समझ सके शुद्धात्मा, कारण परमात्मा,
पांच समवाय और कारण—कार्य सम्बन्ध
तो मानना होगा कि—

हमारा जीवन है किन्हीं पूर्वाग्रहों में पला
कषायों से कुंठित और मिथ्यात्व से छला

X X X

काश! अपने ही घर में पतिदेव
या पिता श्री हों अध्यात्म के ज्ञाता,

और हों वे लोकप्रिय प्रवचनकार
कुशल उपदेशदाता
फिर भी पत्नी, पुत्र व परिवार
रह जाएँ तत्त्वज्ञान से वंचित,
तब तो कहना ही होगा कि—
यही तो है 'दिया तले अंधेरा'
कैसे टूटेगा यह मोह-माया का घेरा?

X X X

थोड़ी सी बाह्य अनुकूलता पाकर
यदि चूक गये यह स्वर्ण अवसर
तो दुर्गति में हमारा ही आत्मा
हमसे पूछेगा—
क्या पाया है तूने! पर व पर्यायों में उलझकर?
अतः क्यों न सीख लें/समझ लें
इन सुखद सिद्धान्तों को
और सफल कर लें अनुकूल संयोगों को
इसी में है हम सबका भला
यही है सुखी जीवन की कला।

— पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

आत्मकथ्य : इन भावों का फल क्या होगा ?

इष्टानिष्ट मिथ्याकल्पनायें करते,
शोक संतप्त रहते;
दैहिक दुःख सहते,
विषय सुख की कामनायें करते;
जो हमारे दिन बीते हैं,
निराकुल सुख से रहे रीते हैं;
यह आर्त ध्यान है।
दुःख की खान है।।

दिन-रात रोते-रोते,
मोह नींद में सोते-सोते;
दुःख के बीज बोते-बोते;
राग-द्वेष की कालिख पोते।

हम जो अहर्निश माथा धुनते हैं,
 यह आर्त ध्यान है।
 विकृत मनोविज्ञान है ॥

X

X

X

स्व-पर प्राण हनते,
 असत् प्रलाप करते;
 पराया धन हड़पते,
 विषयों में रत रहते;
 हम जो आनन्द अनुभव करते हैं,
 पाप-पंक में फंसते हैं;
 यह रौद्र ध्यान है।
 दुःखद दुर्ध्यान है ॥

विकथायें कहते-सुनते,
 राग-रंग में रमते;
 मोह-मद पीते,
 सुखाभास में जीते;
 हंसते-हंसाते हम जो हर्षित होते हैं,
 मानव जीवन यों ही खोते हैं;
 यह भी रौद्र ध्यान है।
 नरक-निदान है ॥

X

X

X

सचमुच, क्या हम पशुओं से गये बीते हैं?
 बुद्धिबल से बिल्कुल रीते हैं?
 अनन्तसिद्धों को देखो न!
 जिन्होंने काम-क्रोध जीते हैं,
 कौन कहता है हम अधूरे हैं;
 हम तो अनन्त गुणों से भरे-पूरे हैं।
 बिन तरासे चैतन्य हीरे हैं।
 तरासने की तैयारी कर रहे धीरे-धीरे हैं ॥
 पहन रखा था हमने अब तक,
 एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व का चोगा;

इसी कारण अब तक,
चतुर्गुति का दुःख भोगा;
इन्हीं भूल-भुलैयों में भटककर,
खाते रहे धोखा ही धोखा
यह भी नहीं समझ पाये कि—
इन भावों का फल क्या होगा?

— पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

आत्मकथ्य : नींव का पत्थर

जिसका संदेश देते आये हैं तीर्थकर,
लिखते आये जिसे समयसारादि ग्रन्थों में—
आचार्य कुन्दकुन्द से मुनीश्वर।
कहान गुरु ने फैलाया जिसे देश-देशान्तर,
वह 'वस्तुस्वातंत्र्य' का सिद्धान्त है—
मुक्तिमहल के नींव का पत्थर।।

X X X

जो झेलता है पूरा बोझ—
मुक्तिमहल का अपने सर पर।
शरण लेना है उसकी; क्योंकि—
मुक्तिमहल बनता है उसकी दम पर।
इससे बढ़कर नहीं है कोई अन्य जंतर-मंतर।
वस्तुस्वातंत्र्य है नींव का पत्थर।

X X X

वस्तुस्वातंत्र्य के साथी हैं षट्कारक,
जो हैं संसार के दुःख निवारक।
तुम समझो उन्हें हर कीमत पर,
यदि ठोकरें नहीं खाना है दर-दर पर।
वस्तुस्वातंत्र्य में इनका योगदान है महत्तर,
षट्कारक हैं नींव के पत्थर।।

X X X

क्रमबद्धपर्याय करती है वस्तु स्वातंत्र्य का पोषण,
इससे होता है संसार समुद्र का शोषण।

जो करता है कुठाराघात संसार वृक्ष की जड़ पर,
हो जाते हैं नष्ट उससे भव-भवान्तर।

शुद्धता का शुभारंभ होता है सत्वर,
क्रमबद्धपर्याय है नींव का पत्थर।

X X X
एक ही वस्तु में होता है कर्त्ता-करम,
यही है मुक्ति मार्ग का मरम।
पर-कर्तृत्व है राग-द्वेष की जड़,
इसलिए पर के कर्त्ता बनने के झगड़े में मत पड़!
न कर मोह संयोगों से तू निरन्तर,
एक ही वस्तु में कर्त्ता-करम हैं नींव के पत्थर

X X X
वस्तु स्वातंत्र्य है वस्तु का स्वभाव-
इसे सिद्ध करते हैं चार अभाव।
आत्मा पर पड़ता है अनुकूल प्रभाव-
और नष्ट होते हैं आत्मा के विभाव।
ये चारों अभाव हैं मंत्रों के महामंतर!
ये चार अभाव हैं नींव के पत्थर।

X X X
एक ही वस्तु में है कारण-कार्य सम्बन्ध,
उसका भी त्रिकाली वस्तु से नहीं कोई अनुबंध।
पूर्व पर्याय का भी होता है अभाव,
मात्र तत्समय की योग्यता दिखाती प्रभाव।
निमित्त कारण है अकिंचित्कर-
अभिन्न कारण-कार्य संबंध है नींव का पत्थर।।

आत्मकथ्य : समाधि, साधना और सिद्धि

क्रोधादि मानसिक विकारों का नाम है 'आधि',
शारीरिक रोग का दूसरा नाम है 'व्याधि'।
पर में कर्तृत्व बुद्धि का बोझ है 'उपाधि',
उपर्युक्त तीनों विकृतियों से रहित-
शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरता का नाम है 'समाधि'।।

X X X

समाधि की समझ से होती है आत्मा की प्रसिद्धि,
समाधि की साधना से होती है सदगुणों में अभिवृद्धि ।
और बढ़ती है आत्म शक्तियों की समृद्धि,
जो पुनः-पुनः पढ़ेगा इसे उसके आत्मा में होगी विशुद्धि—
और होगी सुख-शान्ति तथा गुणों में गुणात्मक वृद्धि ॥

X X X
'सल्लेखना' है मृत्यु महोत्सव का जलजला,
इससे होता है आत्मा का भला ।
बन्धु! इसे न समझो बला, अन्यथा यों ही—
चलता रहेगा संसरण का सिलसिला ॥

X X X
अब तक संयोगों के राग में यों ही गया छला,
मैं अकेला ही आया था और अब अकेला ही चला ।
समाधि है जीवन जीने की कला,
इसी से पहुंचते हैं सिद्ध शिला ॥

आत्मकथ्य : यदि चूक गये तो

कर्मफल भुगतहिं जाय टरे ।
पार्श्वनाथ तीर्थकर ऊपर कमठ उपसर्ग करे ।
एक वर्ष तक आदितीर्थकर बिन आहार रहे ॥
रामचन्द्र चौदह वर्षों तक वन-वन जाय फिरे ।
पाया अवसर चूक गये तो करतल मलत रहे ॥
करम फल भुगतहिं जाय टरे ॥1॥
"जैसी करनी वैसी भरनी" चतुःगति जाय भ्रमे ।
आर्त्तध्यान में अटक गये तो पशुगति जाय परे ॥
पाण्डव जन को देखो उनने कैसे कष्ट सहे ।
भूलचूक जाने-अनजाने करनी यथा करे ॥
करम फल भुगतहिं जाय टरे ॥2॥
कृष्ण सरिखे जगत मान्य जन परहित जिये-मरे ।
जनम जेल में शरण ग्वालघर बृज में जाय रहे ॥
जिनके राज-काज जीवन में दूध की नदी बहे ।
अन्त समय में वही कृष्णजी नीर बूंद तरसे ॥
करम फल भुगतहिं जाय टरे ॥3॥

जरत कुंवर जिसकी रक्षाहित, वन-वन जाय फिरे ।
 अन्त समय में वही मौत के कारण आय बने ।
 ऐसी दशा देखकर प्राणी, क्यों नहीं स्वहित करे ।
 विषयानन्द में रमत रहे तो नरकनि जाय परे ॥
 करम फल भुगतहिं जाय टरे ॥४॥

आत्मकथ्य : ऐसे क्या पाप किए

हमने ऐसे क्या पाप किए,
 जिनके कारण मर-मर कर जिए;
 आंसुओं के घूट किए ।
 जन्तर-मन्तर गंडा-तावीज
 देवी देवताओं के पूजापाठ,
 सुख पाने के लिए सब कुछ तो किए
 पर, अबतक जो भी काम किए
 वे सब व्यर्थ ही सिद्ध हुए ॥

X X X
 रागी-द्वेषी अल्पज्ञ देवी-देवताओं को
 पूजकर, हमने खोदे मौत के कुए;
 टोना-टोटका जन्तर-मन्तर करके
 मिथ्या भाव ही पुष्ट किए;
 अबतक इन्हें छोड़ा नहीं,
 मिथ्यामार्ग से मुँह मोड़ा नहीं;
 बस, इसी कारण फेल हुए,
 फिर भी हमसे पूछते हो ॥
 हमने ऐसे क्या पाप किए,

X X X
 सही समाधान पाने को
 पढिए, "देवदर्शन क्यों ?"
 "श्रावक के षट् आवश्यक क्या ?"
 और पढिए "आध्यात्मिक पंचसकार"
 "सर्वज्ञता और पुरुषार्थ" इन्हीं से प्राप्त होगा आत्मार्थ
 अबतक ये कुछ नहीं किए
 इसी कारण मर-मर कर जिए ॥

सन्मार्ग पर आने के लिए और पढ़िए—

“समाधि—साधना और सिद्धि”

प्रकट होगी आत्मा की प्रसिद्धि

“धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है”

धर्म परम्परा नहीं, स्व—परीक्षित साधना है,

आत्मा की आराधना है।

धर्म है जिन सिद्धान्तों का जीवन में प्रयोग।

उसी से होता है स्वभावसन्मुख उपयोग

अबतक ये कुछ भी नहीं किए,

इसी कारण हम सुख पाने में असफल हुए ॥

X

X

X

प्रस्तुत हैं इस कृति में तेईस निबन्ध,

इनमें है सच्चा सुख पाने का प्रबन्ध

इस संस्करण में सम्मिलित की गई है,

‘आंखन बांधी पाटी’ नामक कहानी

जो बयान करती है अपनी भूल भरी जीवन की कहानी

अबतक यह जाना नहीं,

इसकारण हैं भव में भटके हुए

संसार के राग—रंग में अटके हुए

फिर भी बारम्बार वही होता है प्रश्न,

हम मर—मर क्यों जिए ?

हमने ऐसे क्या पाप किए ? ॥

आत्मकथ्य : परिणति होय विशुद्ध

धन्य दिगम्बर मुनि दशा, धन्य दिगम्बर भेष।

अंग—अंग से झरत है, निर्विकार संदेश ॥

मन में किंचित् है नहीं, राग—द्वेष का लेश।

वाणी में हित—मित वचन, काया सहत क्लेश ॥

पंच महाव्रत, समिति पन पंचेन्द्रिय जय पाय।

षट् आवश्यक, सप्त गुण, पालें मन—वच—काय ॥

जीवन चर्या सहज ही, चलती है निर्दोष।

आगम के अनुसार ही, लगे न किंचित् दोष ॥

बारह भावन चिंतवन, धारें दस विधि धर्म ।
 परिषह अरु उपसर्ग सह, काटें वसु विध कर्म ॥
 खेंच तानकर नहीं करें, नहीं लागें अतिचार ।
 उत्तर गुण मुनि पालते, शक्ति के अनुसार ॥
 इह विध बाह्याचार सह, चिंतत आत्म धर्म ।
 क्षण-क्षण अन्तर्लीन हों, पा लेते निज मर्म ॥
 गुरुवर! चिर जयन्त हों, दर्शाये शिवपन्थ ।
 चाहत मेरी है यही, कब छोड़ूं जगपंथ ॥
 निर्ग्रन्थ बिना मिलता नहीं, शिवपुर का शिवपंथ ।
 मेरी हार्दिक भावना, बन जाऊं निर्ग्रन्थ ॥
 मुनिवर मेरे मन बसैं, चलते-फिरते सिद्ध ।
 दर्शन-वंदन-नमन से, परिणति होय विशुद्ध ।

आत्मकथ्य : ये तो सोचा ही नहीं

यदि हम चाहते हैं लोक-परलोक में सच्चा सुख,
 तो भूलकर भी दूसरों को न पहुंचाओ दुःख ।
 इसीलिए तो कहा है ऋषियों ने, मुनियों ने-
 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'
 दूसरों द्वारा दिया दुःख यदि हमें नहीं है स्वीकार-
 तो दूसरों को दुःख देने का हमें नहीं अधिकार ॥ 1 ॥

X

X

X

अध्यात्म के ज्ञान बिना मन में राग-द्वेष होते हैं ।
 विषय सुखों में मग्न हो हम मोहनींद में सोते हैं ॥
 सर्वोत्तम मानव जीवन को यों ही व्यर्थ खोते हैं ।
 बुढ़ापे में अपनी करनी पर स्वयं पछताते हैं ॥
 अन्तिम समय में दीन-दुःखी-असहाय होते हैं ।
 और इसी दुर्ध्यान के फल में खाते गोते हैं ॥ 2 ॥

X

X

X

कोई भी व्यक्ति किसी अन्य का भला-बुरा नहीं करता,
 व्यक्ति तो पर के सुख-दुःख में निमित्त मात्र बस बनता ।
 जो होना है वह निश्चित है शास्त्रों में यही समझाया,
 जिसने जैसा बीज बोया, उसने वैसा फल पाया ॥

सृष्टि के ये सिद्धान्त जब सभी धर्म बतलाते हैं,
फिर क्यों हम अपने में ईर्ष्या की आग जलाते हैं? ॥3॥

X X X
यदि सभी अध्यात्म शास्त्र यही संदेश देते हैं,
जिन्हें हुआ आत्मज्ञान वे शीघ्र ही मुक्ति पद पाते हैं।
आत्मज्ञान बिना शास्त्रज्ञान काम नहीं आता है,
देवपूजा क्रिया-कर्म भी निरर्थक जाता है।
जिसे आत्मज्ञान नहीं, भले वह शास्त्र समुद्र में लगा रहा गोता,
तो भी वह शास्त्रों का ज्ञाता नहीं, वह तो है केवल रटू तोता ॥4॥
जो पराये प्राण हरते और झूठ बोलते हर्षित होते हैं,
चौर कर्म करते विषयों में रमते परिग्रह में आनंदित होते हैं।
जो जुआ जैसे दुर्व्यसनों में रमते मदिरापान करते हैं,
राग-द्वेषवर्द्धक वार्ताओं में ही दिन-रात रमते हैं ॥
वे इन खोटे भावों के फल में कुगति गमन करते हैं,
और पीड़ा चिन्तन करते हुए दिन-रात रहते हैं ॥5॥

X X X
सचमुच क्या हम पशुओं से गये बीते हैं ?
बुद्धिबल से बिल्कुल ही रीते हैं।
नहीं, नहीं, कौन कहता है कि हम अधूरे हैं,
हम तो सभी आत्मिक गुणों से भरे-पूरे हैं ॥
हाँ, हम अभी बिना तरासे चैतन्य हीरे हैं,
तरासने की तैयारी कर रहे धीरे-धीरे हैं ॥6॥

X X X
प्रत्येक काम करने के पहले प्रभु को याद करें,
ईमानदारी से काम करने का संकल्प करें।
परिश्रम करने में किंचित भी प्रमाद न करें,
प्रसन्नता, उत्साह और समर्पण में कमी न करें।
आज का काम आज ही करें कल पर न छोड़ें,
काम को कठिन मानकर उससे मुंह न मोड़ें ॥7॥

X X X

हमने स्वयं अपराध किए और दूसरों को कोसा,
 गुरुओं की वाणी पर किंचित् नहीं किया भरोसा।
 पहन रखा था हमने पर कर्तृत्व के अहंकार का चोगा,
 इसी कारण अबतक चतुर्गति का दुःख भोगा।।
 देते रहे हम स्वयं को धोखा ही धोखा,
 ये सोचा ही नहीं इन भावों का फल क्या होगा ?।।8।।

आत्मकथ्य : जो गहरे गोते खायेगा

आगम-रत्नाकर में प्रतिदिन
 जो गोते खूब लगायेगा।

अध्यात्म का अवलम्बन ले
 जो गहरे गोते खायेगा।।

यथाशीघ्र तल तक जाकर वह
 अनमोल रतन ले आयेगा।

रत्नत्रय की निधियां पाकर
 वह अनुपम आनंद पायेगा।।

X X X

समकित का अनमोल रतन
 उसके अनुभव में आयेगा।

ज्ञान-रतन की ज्योति से
 वह अज्ञान अंधेर भगायेगा।

निज स्वरूप में स्थिर हो
 वह भवसागर तर जायेगा।

मोक्षमहल में जाकर के
 वह कृत्य-कृत्य हो जायेगा।।

X X X

आत्मकथ्य : 'जिन खोजा तिन पाइयाँ

यह विश्वास हमारा है।

आध्यात्मिक रत्नों को पाने का

बस ये ही एक सहारा है।।

तृतीय अध्याय

पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल के साहित्य में तात्त्विक चिन्तन

जीवतत्त्व¹ - जीव का लक्षण उपयोग है, उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन स्वभाव। ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा को ही जीव तत्त्व कहते हैं। भगवान आत्मा अनादि-अनन्त है। विज्ञानघन है, अनन्त गुण व अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। ये ही जीवतत्त्व की पहचान है। जीवतत्त्व स्वयं द्रव्यरूप है, विज्ञानघन है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दिकारी-अविकारी पर्यायों से पृथक ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा, कारण परमात्मा जीवतत्त्व है तथा शुद्धाशुद्ध पर्यायों का पिण्ड ज्ञानदर्शन वाला आत्मा जीव द्रव्य है। जीवद्रव्य व जीवतत्त्व में यही अन्तर है।

अजीततत्त्व² - पुद्गल का एक शुद्ध परमाणु, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य (असंख्य) ये पांच अजीव तत्त्व हैं, जो पूर्ण स्वतंत्र एवं स्व-संचालित हैं। ये अनादि-अनन्त हैं। सम्यग्दर्शन के विषयभूत हैं। इनसे भिन्न पुद्गल स्कन्ध अजीव द्रव्य हैं।

आस्रवतत्त्व³ - आत्मा में कर्मों के आने को आस्रव कहते हैं। वह आस्रव 'कायवाङ्मनः कर्मयोगः' 'स आस्रवः' अर्थात् वह आस्रव काय, वचन एवं मन की क्रिया के योग से होता है, यह द्रव्यास्रव है। द्रव्यास्रव के निमित्त से जो राग-द्वेष होता है वह भावास्रव है, आस्रव के दो भेद हैं- (1) शुभास्रव (2) अशुभास्रव।

आस्रव के स्वामी - आस्रव के दो भेद हैं- कषाय सहित जीवों को जो आस्रव होता है, वह साम्प्रदायिक तथा कषायरहित जीवों को जो आस्रव होता है; वह ईर्यापथ आस्रव है।

1. हरिवंश कथा, पृष्ठ 253 एवं 257, अ. 25

2. हरिवंश कथा, पृष्ठ 253 एवं 257, अ. 25

3. हरिवंश कथा, पृष्ठ 253 एवं 257, अ. 25

बन्धतत्त्व¹ — कषाय से कलुषित जीव प्रत्येक क्षण कर्म के योग्य जो पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बंध कहलाता है। यह बंध अनेक प्रकार का है। सामान्य रूप से बंध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है।

प्रकृतिबंध — जिस प्रकार नीम की प्रकृति कड़वी होती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति ज्ञान पर आवरण करना है, ज्ञान को प्रकट नहीं होने देने का है।

स्थितिबंध — जीव अपने स्वभाव से तो च्युत नहीं होता, किन्तु जितने काल तक कर्म सत्ता में रहते हैं वह कर्मों का स्थितिबंध है।

अनुभाग बंध — कर्मरूप पुद्गल स्कन्धों में जो फलदान की शक्ति होती है, वह अनुभाग बंध है।

प्रदेशबंध — कर्मरूप पुद्गल स्कन्धों के समूह में परमाणु के प्रमाण में कल्पित खण्डों की संख्या प्रदेश बंध है।

आत्म परिणामों में स्थित मिथ्यादर्शन, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग — ये 5 बंध के कारण हैं।

ध्यान रहे, मिथ्यात्व के दो प्रकार हैं — 1. गृहीत मिथ्यात्व, 2. अगृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्व में जीवादि सात तत्त्वों की अश्रद्धा होती है अर्थात् अगृहीत मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) जीव को जीवरूप न मानकर अजीव को जीव मान लेता है तथा गृहीत मिथ्यात्व में अतत्त्वों की श्रद्धा होती है अर्थात् जो देव नहीं है, उन्हें देव मान लेता है। इस प्रकार अगृहीत मिथ्यात्व में तत्त्वों की अश्रद्धा होती है और गृहीत में अतत्त्वों में तत्त्वों की श्रद्धा होती है अर्थात् जो देव नहीं है उन्हें देव मानना अर्थात् अदेव-कुदेव को सच्चा देव मान लेना, श्रद्धा कर लेना गृहीतमिथ्यात्व है।

संवरतत्त्व — आस्रव का रुक जाना संवर है। यह भाव संवर व द्रव्य संवर के भेद से दो प्रकार का होता है।

तीन गुप्तियाँ, पांच समितियाँ, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, पांच

चारित्र और बाईस परिषहजय— ये संवर के कारण हैं, इनके पालन करने से आते हुए कर्मों का आना रुक जाता है। आते हुए कर्मों का रुक जाना संवर है।

निर्जरातत्त्व — बंध का एकदेश (आंशिक) अभाव निर्जरा है। जो बंध को यथार्थ नहीं पहचाने, उसे निर्जरा का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता।

निर्जरा के दो भेद हैं — (1) सविपाक निर्जरा। (2) अविपाक निर्जरा। समय आने पर संसार में भ्रमण करने वाले जीव का कर्म जब फल देने लगता है, तब क्रम से अपने समय पर कर्म की जो निवृत्ति होती है, वह सविपाक निर्जरा है तथा जिसप्रकार आम आदि फलों को पाल में असमय में ही पका लिया जाता है, उसी प्रकार उदयावली में आने के पहले ही कर्म की तपश्चरण आदि उपायों से निश्चित समय से पूर्व ही उदीरणा द्वारा जो निर्जरा होती है वह अविपाक निर्जरा है।

मोक्षतत्त्व — समस्त कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है। जीव-अजीव के अलावा पांच तत्त्व पर्यायतत्त्व हैं। अजीव में शुद्ध परमाणु के अतिरिक्त पुद्गल स्कन्ध भी अजीव द्रव्य हैं।

सात तत्त्व सम्बन्धी भूलें — सात तत्त्वों के सम्बन्ध में दो प्रकार की भूलों का वर्णन मोक्षमार्ग प्रकाशक के चौथे एवं सातवें अध्याय में मिलता है (1) अगृहीतमिथ्यादृष्टि सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप समझने में क्या/कैसी भूलें करता है तथा गृहीत मिथ्यादृष्टि क्या-क्या कैसी भूलें करता है। उसका कथन निम्न प्रकार है—

अगृहीत मिथ्यादृष्टि वह है, जो अनादिकाल से ही सात तत्त्वों को सही समझने में भूलें करता आ रहा है तथा गृहीत मिथ्यादृष्टि वह है, जिसमें अनादिकालीन भूलें तो थीं ही, किन्तु रागी-द्वेषी गुरुओं को देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ स्वरूप मानना अर्थात् जो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र नहीं हैं, उन्हें सच्चे देव शास्त्र गुरु मान लेता है, वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

जीव-अजीव सम्बन्धी भूलें या अयथार्थ श्रद्धान¹— “जीव अनादिकाल से कर्म के निमित्त से अनेक पर्यायें (अवस्थायें) धारण करता है। पूर्वावस्था को छोड़ता है, नवीन अवस्था को धारण करता है। वह अवस्था एक तो स्वयं जीव तथा अनन्त पुद्गल परमाणुओं के संयोग से बनी देह है, किन्तु यह अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि शरीर ही ‘मैं हूँ’ तथा स्वयं जीव है, जिसका स्वभाव ज्ञान-दर्शन रूप है तथा विभाव क्रोधादि रूप है एवं पुद्गलादि के रूप, गंध, वर्ण स्पर्शादि स्वभाव हैं, उन सबको अपना स्वरूप मानता है।

‘ये मेरे हैं’ उनमें ऐसी ममत्व बुद्धि होती है तथा स्वयं जीव है, उसके ज्ञानादि व क्रोधादि रूप अवस्था होती है तथा पुद्गल परमाणुओं की वर्णादिक पलटने रूप अवस्था होती है, उन सबको अपनी अवस्था मानता है। ‘यह मेरी अवस्था है — ऐसी ममत्व बुद्धि करता है।

जीव व अजीव (शरीर) के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इस कारण जो क्रिया होती है, उसे अपनी (जीव की) क्रिया मानता है। अपना ज्ञानदर्शन स्वभाव है, उसके निमित्त से शरीर के अंगरूप स्पर्शनादि द्रव्येन्द्रियां हैं यह (अज्ञानी) उन्हें एक मानकर ऐसा मानता है कि मैंने स्पर्श किया, मैंने स्वाद लिया, मैंने सूंघा, मैंने देखा-सुना तथा द्रव्यमन और ज्ञान को एक मानकर ऐसा मानता है कि ‘मैंने जाना’।

बोलने में भाषा वर्गणा के कार्य को अपना बोलना मानता है अपनी जो गमनादि क्रिया होती है, उसमें एक जीव व अनन्त पुद्गलों के पिण्ड होते हैं, उसे अपनी (जीव की) क्रिया मानता है। एक क्षेत्रावगाह के कारण जो शरीरादि में हलन-चलन होता है, उन सबमें अपना कर्तृत्व, एकत्व व ममत्व स्थापित करता है।

जब जीव के कषायभाव हो तो नेत्र लाल हो जाते हैं, इस प्रकार जीव के निमित्त से शरीर में होने वाली क्रियाओं को अपनी क्रियायें मानता है। इसी प्रकार शरीर के निमित्त से जीव में होने वाली नाना क्रियाओं को अपनी क्रियायें मानकर राग-द्वेष-मोह भाव करके

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, अ. 8 के आधार से

हर्ष-विषाद करता रहता है। अचेत सा हुआ मिश्रित पर्यायों में अहं बुद्धि धारण करता है।”

इस आत्मा को अनादि से इन्द्रियज्ञान है, इसकारण स्वयं अमूर्तिक है, यह तो भासित नहीं होता। अतः जो शरीरमूर्तिक है, उसे ही अपना स्वरूप मान लेता है, क्योंकि जब स्वयं आत्मा का स्वरूप भासित नहीं होता और किसी न किसी को अपना स्वरूप मानें बिना रहा नहीं जाता। अतः समुदाय रूप जो प्राप्त पर्याय है, उसे ही अपना स्वरूप मान लेता है। आत्मा में और शरीर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध घने हैं, इस कारण भी भिन्नता भासित नहीं होती।

यद्यपि स्त्री-पुत्रादि प्रत्यक्ष भिन्न भासित होते हैं तथापि उनमें भी ममकार करता है।

“इस प्रकार जीव-अजीव का अयथार्थ श्रद्धान होता है।”

आस्रवतत्त्व का अयथार्थ श्रद्धान¹ - “इस जीव को मोह के उदय से मिथ्यात्व व कषायादि भाव होते हैं, उनको अपना स्वभाव मानता है, कर्मोपाधि से हुए नहीं जानता। ज्ञान-दर्शन का उपयोग और ये विकारी भावों को एक मानता है, क्योंकि इन दोनों का आधार एक आत्मा है और इनका परिणाम एक साथ होता है, इस कारण इनमें भिन्नपना भासित नहीं होता और भिन्नपना भासित होने का जो विचार है, वह मिथ्यादर्शन के बल से हो नहीं सकता।

जीव दुःखी तो अपने मिथ्यात्व व कषाय भावों से होता है और वृथा ही औरों को दुःख उत्पन्न करने वाला मानता है। अशुभ भावों की तीव्रता से नरकादि होते हैं तथा भावों की मन्दता से स्वर्गादि होते हैं, वहां कम-अधिक आकुलता होती है। ऐसा भासित नहीं होता, इसलिए वे बुरे नहीं लगते।”

संवर-तत्त्व का अयथार्थ श्रद्धान² - “आस्रव का अभाव संवर है। जो आस्रव को यथार्थ नहीं पहचानते, उसे संवर का यथार्थ

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 82, अ. 7

2. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 83-84 अ. 7

श्रद्धान कैसे हो? संवर होने पर सुख होता है। यह भासित नहीं होता। संवर से आगामी काल में दुःख नहीं होगा। यह बात तो भासित नहीं होती। इसलिए आस्रव का तो संवर करता नहीं है और अन्य को ही दुःख का कारण मानता है, अतः उन्हीं के न होने का उपाय करता है। परन्तु वे अपने आधीन नहीं हैं, वृथा ही खेद खिन्न क्यों होता है?"

निर्जरा तत्त्व का अयथार्थ श्रद्धान¹ - "आस्रव भावों से ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होता है। उनका उदय होने पर ज्ञान-दर्शन की हीनता होना, मिथ्यात्व कषाय रूप परिणमन होना, चाहा हुआ न होना, सुख-दुःख का कारण मिलना, शरीर का संयोग रहना, गति-जाति-शरीरादि उत्पन्न होना, नीच-ऊँच कुल का पाना होता है। इनके होने में मूल कारण कर्म है। जो कर्म है, उन्हें यह पहचानता नहीं है; क्योंकि वह सूक्ष्म है तथा वह इसको इन कार्यों का कर्त्ता दिखाई नहीं देता; इसलिए इनके होने में यह तो अपने को कर्त्ता मानता है या किसी और को कर्त्ता मानता है। जब अपना व अन्य का कर्त्तापना भासित न हो तो मूढ़ होकर भवितव्य को मानता है। इस प्रकार बंध तत्त्व का अयथार्थ श्रद्धान करता है।"

मोक्षतत्त्व का अयथार्थ श्रद्धान² - "सर्व कर्म के अभाव का नाम मोक्ष है। जो बन्ध को तथा बन्ध जनित सर्वदुखों को नहीं पहचानते, उसको मोक्ष का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो?"

अज्ञानी जीवों को कर्मों का और उनकी शक्ति का ज्ञान तो है नहीं; इस कारण बाह्य पदार्थों को दुःख का कारण जानकर उनका सर्वथा अभाव करने का उपाय करता है, जो संभव नहीं है तथा मोक्ष अवस्था में सर्व कर्मों का अभाव हो जाने तथा अनन्तदर्शन, ज्ञान व चारित्र प्रकट हो जाने से वे मुक्त जीव अनन्त सुखी हैं, यह ज्ञान नहीं होने से मोक्षतत्त्व का अन्यथा श्रद्धान करता है।"

2. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 83-84, अ. 7

3. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 83-84, अ. 7

चतुर्थ अध्याय

पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल के साहित्य में प्रतिपादित धार्मिक और दार्शनिक निबन्ध

दर्शन का स्वरूप एवं विश्लेषण — यहाँ दर्शन का अर्थ है धर्म और सिद्धांत के प्रति श्रद्धान करना तथा उसे तर्क की कसौटी पर कसकर उससे सत्यासत्य का निर्णय करना।

धार्मिक और सैद्धान्तिक विचारों को तर्क की कसौटी पर परखना दर्शन के अन्तर्गत आता है। जहाँ धर्म में आचरण की मुख्यता रहती है, वहीं दर्शन में चिंतन एवं तर्क की मुख्यता होती है। दर्शन में श्रद्धा की मुख्यता है, साततत्त्व दर्शन के विषय हैं और छह द्रव्यों का स्वरूप धर्म का विषय है।

यद्यपि धर्म और दर्शन में अन्तर स्पष्ट करना सहज कार्य नहीं है, क्योंकि धर्म के प्रतिपादन में 'दर्शन' आ ही जाता है। वैसे वस्तु का स्वभाव या तदरूप आचरण करना धर्म है तथा उस धर्म को जब हम तर्कों की कसौटी पर कसते हैं, उसके सत्यासत्य का निर्णय करते हैं तो वह दर्शन का विषय बन जाता है।

जैनधर्म व जैनदर्शन का हम वर्गीकरण करें तो हम अनेकान्त व स्याद्वाद को दर्शन में तथा अहिंसा व अपरिग्रह को धर्म की कोटि में सम्मिलित कर सकते हैं। अनेकान्त व स्याद्वाद चिंतन के विषय हैं और अहिंसा व अपरिग्रह आचरण के विषय हैं। इसीतरह सात तत्त्वों के प्रतिपादन को दर्शन में कह सकते हैं और 11 प्रतिमाओं एवं 8 मूलगुणों को धर्म की कोटि में ले सकते हैं। आठ कर्मों के वर्णन को दर्शन तथा अष्ट मूलगुणों के पालन को हम धर्म की कोटि में ले सकते हैं।

निबन्ध साहित्य में 'भावहिंसा एवं द्रव्यहिंसा' —

पण्डित श्री रतनचन्द्र भारिल्ल ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की प्रस्तावना में लिखा है कि आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने चारित्र के प्रकरण में हिंसा, अहिंसा का जैसा सूक्ष्म, सटीक एवं मौलिक वर्णन किया है वैसा पूरे जिनागम में कहीं भी देखने में नहीं आया।

हिंसा—अहिंसा की परिभाषा दर्शाते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं —

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥¹

निश्चय से रागादि भावों का प्रकट न होना ही अहिंसा है और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है।

भावार्थ में कहा है कि — रागादि भावों का अभाव होना अहिंसा है और रागादि भावों का होना ही निश्चय से हिंसा है— यही जिनागम का संक्षिप्त सार है।

जिनागम में हिंसा—अहिंसा की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्मरूप से की गई है। सर्वत्र भावों की मुख्यता से ही हिंसा के विविधरूपों का वर्णन है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आगे कहा है कि —

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत् ।

अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥²

अर्थात् झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के माध्यम से भी आत्मा में मोह—राग—द्वेष की उत्पत्ति होती है और उससे स्व—पर प्राणों को पीड़ा भी पहुंचती है— इस कारण झूठ, चोरी आदि पाप भाव भी प्रकारान्तर से भावहिंसा ही है। आगे कहा है कि —

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।

हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥³

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 44

2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 42

3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 49

“यद्यपि परवस्तु के कारण सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती, तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के आयतन बाह्य परिग्रहादि एवं अन्तरंग कषायादि का त्याग कर उनसे निवृत्ति लेना उचित है।”

आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा के अनेक भंगों की मीमांसा की है, जो निम्न प्रकार है—

यत् खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।

व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥४३॥^१

अर्थ — कषाय के योग से मन-वचन-काय के द्वारा जो द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का घात होता है, वही वस्तुतः हिंसा है।

टीकाकार पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि— निश्चय से कषाय रूप परिणमित हुए मन-वचन-काय के योग से द्रव्य-भावरूप दोनों प्रकार के प्राणों को पीड़ित करना निश्चय से हिंसा है।

और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए वे भावार्थ में लिखते हैं कि— अपने मन में वचन में क्रोध-कषाय प्रकट होने पर उससे प्रथम तो अपने शुद्धोपयोग रूप भावप्राण का घात हुआ। अपने भावप्राण का व्यपरोपण होने के कारण भावहिंसा तो पहले ही हो गई, दूसरी द्रव्यहिंसा हो अथवा न भी हो तो भी भावहिंसा होने से पापभाव तो हो ही गया।

पश्चात् कदाचित तीव्रकषाय होने पर अपने दीर्घ श्वास आदि से अपने अंग को पीड़ा उत्पन्न करे या अपघात करके, मर जाय, तो अपने द्रव्यप्राण के घात रूप से हिंसा हुई।

निबन्ध साहित्य में : परिग्रह/अपरिग्रह

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहोः ह्येषः।

मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः॥१११॥^२

यह जो मूर्च्छा है, इसे ही निश्चय से परिग्रह जानना चाहिए और मोह के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्वरूप परिणाम ही मूर्च्छा है।

1. पुरुषार्थसिद्धयुपाय 43

2. पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक 111

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।

सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥११२॥^१

परिग्रहपने का मूर्च्छा लक्षण करने से व्याप्ति भले प्रकार से घटित होती है, क्योंकि बाह्य परिग्रह बिना भी मूर्च्छा करनेवाला पुरुष निश्चय से बाह्य परिग्रह सहित है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा— मूर्च्छा परिग्रह है अर्थात् परिग्रह में ममत्व का होना ही मूर्च्छा है।

परिग्रहभाव का लक्षण मूर्च्छा किया, उसमें व्याप्ति भले प्रकार बनती है, क्योंकि धन, धान्यादि बाह्य परिग्रह बिना भी ममत्वपरिणामवाला जीव परिग्रह सहित होता है।

इसलिए जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ परिग्रह अवश्य है। जहाँ मूर्च्छा नहीं है, वहाँ परिग्रह भी नहीं है। मूर्च्छा की परिग्रह के साथ व्याप्ति है।

कोई जीव नग्न है, बाह्य परिग्रह से रहित है, परन्तु यदि अन्तरंग में मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम है तो वह परिग्रहवान ही है; अतः मूर्च्छा परिग्रह का लक्षण अव्याप्ति दूषण से रहित है।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः ।

भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥११३॥^२

मूर्च्छा ही परिग्रह होवे तो निश्चय से बाह्य परिग्रह कुछ भी सिद्ध नहीं होता; किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि यह बाह्य परिग्रह मूर्च्छा के निमित्तपने से होता है।

पण्डित भारिल्ल के साहित्य में विविध विचार —

पुण्य, पाप और धर्म में मौलिक अन्तर

पुण्य—पाप दोऊ करम, बंधरूप दुर मानि ।

शुद्ध आत्मा जिन लह्यो नमूँ चरण हित मानि ॥

यद्यपि शताब्दियों से जिनवाणी के माध्यम से पुण्य—पाप और धर्म के स्वरूप की चर्चा करते आ रहे हैं, तथापि तत्त्वज्ञान के अनभ्यास

2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक 112

3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 113

के कारण आज भी अधिकांश लोग पुण्य—पाप व धर्म में अन्तर नहीं समझते।

यद्यपि पुण्य भाव व पुण्य क्रियायें ज्ञानी—सम्यग्दृष्टि एवं मुनियों के जीवन में भी पायी जाती है, किन्तु उनके पुण्य की चाह नहीं है। जब—जब ज्ञानी व मुनि अपनी वीतराग परिणति में नहीं ठहर पाते, तब तब उनके शुभभाव एवं पुण्य क्रियायें ही पायी जाती हैं, किन्तु उनको इसका हर्ष नहीं होता, बल्कि खेद वर्तता है। वे इन शुभ भावों व पुण्य क्रियाओं में ही संतुष्ट होकर रम नहीं जाते। वे इनमें धर्म नहीं मानते। पुण्य कर्म धर्म नहीं, धर्म की सीढ़ियाँ हैं, सोपान हैं, जिन्हें छोड़ते हुए आत्मा में जाते हैं, निज में प्रवेश करते हैं। अन्दर आने का मार्ग मन्दिर में से ही है। निज में जाना ही धर्म है।

जिसप्रकार सर्कस में झूलती हुई लड़की यदि चूक जाए तो जाली पर गिरती है, पर जाली पर गिरकर वह हर्षित नहीं होती, अपितु खेद—खिन्न होती है। गिरना उसे गौरव की बात नहीं लगती, बल्कि शर्म महसूस होती है। लेकिन जिसप्रकार भूमि पर गिरने की अपेक्षा जाली पर गिरने से लड़की मौत से बच जाती है, उसीप्रकार पाप रूप भूमि पर गिर कर मरने की अपेक्षा पुण्य की जाली पर गिरकर जीव नरक—निगोद में जाने से बच जाता है। अशुभ भाव की कठोर भूमि पर गिरने से तो मौत ही होगी। इस अपेक्षा शुभभाव को क्षणिक उपादेय एवं व्यवहार से धर्म भी कहा जाता है। ज्ञानी के शुभाशुभ—दोनों ही भावों का अस्तित्व है, किन्तु ज्ञानी को शुभ भाव की चाह नहीं, वह तो पाप रूप अशुभ भाव से बचने के लिए तथा जब तक शुद्ध भाव (धर्म) में नहीं जा सके तब तक शुभ भावों को बुद्धिपूर्वक भी करता है।

पुण्य—पाप व धर्म में भ्रांति होने का मुख्य कारण यह है कि—आगम में भी कहीं—कहीं पुण्य को व्यवहार से धर्म कह दिया है तथा धर्म के निमित्त किये गये पाप कार्यों को भी कर्तव्य कह दिया है। जैसे कि— “कठिन वचन मत बोल, पर निन्दा अरु झूठ तज’ यद्यपि

यह शुभभाव है संसार का ही कारण है फिर भी अशुभभावों से बचने के लिए शुभभाव में रहने की प्रेरणा दी गई है। किन्तु यह कथन सत्यधर्म के प्रकरण में आया है, ऐसे ही जो भी कथन आये, उन्हें जो मात्र उपचार से कहे गये समझना एवं भ्रम पैदा करते हैं, अतः उनके यथार्थ स्वरूप को एवं कथन की अपेक्षा को समझना चाहिए।

अन्त में कविवर बनारसीदासजी ने कहा है कि —

जावत शुद्धोपयोग पावत नाही मनोग।
तावत ही करन जोग कही पुन्न करनी।।'

अर्थात् जब तक शुद्धोपयोग अर्थात् वीतराग परिणति नहीं होती, तबतक मुक्ति के मार्ग में पाप भावों से बचने के लिए पुण्य कार्य करने योग्य हैं। पर, दोनों के अन्तर को ज्ञानी भली-भांति जानते हैं।

— ऐसे क्या पाप किए पुस्तक पृष्ठ 54 से

पाषाण से परमात्मा बनने की प्रक्रिया

न केवल भारत में, बल्कि विदेशों में भी 'पाषाण की मूर्तियों' में परमात्मा का रूप देखने की पुरानी परम्परा है। ये बात अलग है कि प्रत्येक जाति व धर्म के व्यक्ति अपने-अपने मान्य धर्म के अनुसार परमात्मा का स्वरूप भिन्न-भिन्न मानते हैं। कोई मर्यादा पुरुषोत्तम राम के रूप में तो कोई लीला पुरुषोत्तम कृष्ण के रूप में, कोई बाघाम्बर पहने महादेव के रूप में तो कोई ईसामसीह के रूप में परमेश्वर को देखते हैं। ऐसी ही एक परम्परा जैन धर्मानुयायी एवं बौद्धधर्मानुयायी व्यक्तियों की भी है।

जैन लोग किसी एक सृष्टिकर्ता रूप परमात्मा को न मानकर ऐसा मानते हैं कि प्रत्येक जीव द्रव्यस्वभाव से तो परमात्मा स्वरूप ही हैं, परन्तु जो अपने आत्मा में शुद्ध आत्मा का-कारणपरमात्मा का स्वरूप देख लेते हैं, जान लेते हैं, पहचान लेते तथा उसमें अपने शुद्ध स्वरूप की प्रतीति कर लेते हैं, वे कालान्तर में परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर सदा के लिए स्वयं परमात्म पद प्राप्त कर लेते हैं,

अनन्तकाल के लिए अनन्त सुख प्राप्त कर लेते हैं तथा केवलज्ञान प्राप्त कर लोकालोक के ज्ञाता एवं वीतरागी हो जाते हैं।

पण्डित दौलतरामजी ने कहा भी है—

“सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन।

सो जिनेन्द्र जयवंतनित अरि रज रहस विहीन।।”

ऐसे जीव पर्याय में भी परमात्मा बन जाते हैं। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख एवं अनन्त शान्ति प्राप्त कर लेते हैं।

पाषाण की प्रतिमा के माध्यम से जैन उन जैसा बनने के लिए उस परमात्मा की आराधना, उपासना या पूजा करते हैं, जिसने स्वयं पूर्णता प्राप्त कर ली है, जो अरहन्त व सिद्धपद को प्राप्त हो गये हैं।

पण्डित टोडरमलजी के शब्दों में अरहंत भगवान उन्हें कहते हैं, जिन्होंने गृहस्थपना छोड़ मुनिधर्म धारण कर, निजस्वभाव की साधना द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय करके अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख एवं अनन्त शक्ति प्राप्त कर ली है।

कुछ काल बाद आयु पूर्ण होने पर वे अरहंत ही सिद्ध पद प्राप्त कर अनंतकाल तक अनन्त ज्ञान के साथ अनन्त सुख भोगते हैं।

उन्हीं मूर्तियों को पंचकल्याणक के माध्यम से प्रतिष्ठा करके उन्हें पूज्य बनाया जाता है। जैसा कि कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में कहा है—

“जिन प्रतिमा जिन सारखी, कही जिनागम माहि”

अर्थात् जिनागम में जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा हो जाने पर उसे भगवान के रूप में पूज्य मानकर प्रतिदिन उसकी पूजा एवं प्रक्षाल किया जाता है। प्रतिदिन प्रक्षाल का प्रयोजन तो केवल मूर्ति में वीतरागता बनाये रखना ही है, अन्य कुछ नहीं।

पण्डित रतनचन्दजी ने इस सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा है— यहाँ उस निबन्ध को उन्हीं के शब्दों में संक्षेप में लिखते हैं— “भरतक्षेत्र के प्रत्येक तीर्थकर के जीवन में जो पांच कल्याणकारी घटनायें घटती हैं, उन्हें ही पंचकल्याणक कहते हैं।

‘पंच’ शब्द तो मात्र पांच संख्या का सूचक है और कल्याणक का अर्थ है कल्याणकारी मंगलमय महोत्सव अथवा वैराग्यवर्द्धक, वीतरागता

के पोषक, आत्मानुभूति में निमित्तभूत प्रेरणाप्रद—पावन प्रसंग। ये पंचकल्याणक भव्य जीवों को संसार सागर से पार होने में निमित्त बनते हैं। इनके नाम हैं — गर्भ, तप, केवलज्ञान एवं मोक्ष कल्याणक।

जिनागम के अनुसार ये पंचकल्याणक तीर्थकरों के ही होते हैं और 'तीर्थकर' का अर्थ होता है — जो जगत के जीवों को जन्म—मरण और आधि—व्याधि—उपाधि के असह्य दुःख रूप भव सागर से तारने में नौका के समान निमित्त हों।

जो जीव पूर्व जन्म में विश्वकल्याण की भावना भाता है, समस्त संसारी जीवों के प्रति वात्सल्य भाव रखता है, उन्हें सम्पूर्ण रूप से सुखी देखना चाहता है, जिनके हृदय में निष्प्रयोजन करुणा होती है, जो सबकी मंगल कामना करता है, उन्हें 'तीर्थकर' नामक ऐसे सातिशय पुण्य कर्म का बन्ध होता है, जिसके फल में वह परमोत्कृष्ट, जगत पूज्य, सौ—सौ इन्द्रों द्वारा वंदनीय 'तीर्थकर' पद को प्राप्त करता है।

ज्ञातव्य है कि तीर्थकर प्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में होता है। अतः निश्चय से तो वे तभी तीर्थकर कहलाते हैं तथा व्यवहार से यानी नैगमनय की अपेक्षा आगे तीर्थकर होने वाले जीव को पहले से भी तीर्थकर कहने का व्यवहार चलता है।

जब उस तीर्थकर पद को पाने वाला जीव 'माँ' के गर्भ में आता है तो गर्भ में आने के छह माह पूर्व से जन्म होने तक अर्थात् पन्द्रह माह तक इन्द्र की आज्ञा से धन—कुबेर द्वारा प्रतिदिन तीन बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। दिगकुमारी देवियों द्वारा तीर्थकर की माता की परिचर्या एवं गर्भशोध की क्रिया होती है। तीर्थकर का जीव जब गर्भ में आने वाला होता है, उसके पूर्व तीर्थकर की माता को सोलह शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं। माता प्रातः उठकर राजदरबार में जाकर उन स्वप्नों का फल अपने पति से पूछती हैं। पति उन्हें स्वप्नों का फल बताते हैं, जिसे ज्ञातकर माता तो अति हर्षित होती ही हैं, राजदरबार में उपस्थित समस्त प्रजाजन एवं इन्द्र और देवगण भी हर्षित होकर जोर—शोर से गर्भकल्याणक का मंगल महोत्सव मनाते हैं।

जब तीर्थकर पद प्राप्त करने वाले जीव का जन्म होता है, तब तीनों लोकों में हर्ष का वातावरण छा जाता है। चौबीसों घंटे नरक की यातनायें भोगने वाले नारकी जीवों को भी एक क्षण के लिए सुख-शान्ति का अनुभव होता है। भव्य जीवों के तो मानों भाग्य ही खुल जाते हैं। इन्द्रों का आसन कंपायमान होता है, इससे उन्हें ज्ञात होता है कि तीर्थकर का जन्म हो गया है। वे तुरन्त सदल-बल तीर्थकर के जीव का जन्मकल्याणक मनाने के लिए चल पड़ते हैं। इन्द्राणी प्रसूतिगृह में जाकर माता के पास मायावती बालक सुलाकर बाल-तीर्थकर को जन्माभिषेक के लिए सौधर्म इन्द्र को सौंपती है। सौधर्म इन्द्र बाल तीर्थकर को ऐरावत हाथी पर बिठाकर देव समूह के साथ सुमेरु पर्वत पर ले जाते हैं। वहां उनका क्षीर सागर के पवित्र जीव-जन्तुरहित प्रासुक जल से अभिषेक करते हैं। उन जैसा महोत्सव मनाना तो आज हमारे लिए असंभव ही है; फिर भी अपनी शक्ति और भक्ति के अनुसार हम भी इन पंचकल्याणक उत्सवों में साधर्मीजनों में से ही इन्द्रों की प्रतिष्ठा करके जन्मकल्याणक को सर्वाधिक उत्साह से उत्सव मनाते हैं।

यहाँ कोई पूछ सकता है कि गर्भ और जन्म तो सभी जीवों के होते हैं; फिर मात्र तीर्थकरों के ही ये दोनों उत्सव इन्द्रों द्वारा कल्याणक के रूप में क्यों मनाये जाते हैं? हमारे तुम्हारे क्यों नहीं?

समाधान यह है कि— यद्यपि गर्भ में आना और जन्म लेना कोई नई बात नहीं है, बड़ी बात भी नहीं है; बल्कि ये दुःखद ही होते हैं; किन्तु जिस गर्भ के बाद पुनः किसी माँ के गर्भ में न जाना पड़े, जिस जन्म के बाद किसी के उदर से पुनः जन्म न लेना पड़े। जिस गर्भ एवं जन्म में जन्म-मरण का अभाव होकर मुक्ति की प्राप्ति हो, वह गर्भ और जन्म कल्याणक स्वरूप होने से कल्याणक के रूप में मनाये जाते हैं। तीर्थकर का जीव अब पुनः गर्भ में नहीं आयेगा, पुनः जन्म भी नहीं लेगा; अतः उसका ही गर्भ-जन्म कल्याण के रूप में मनाया जाता रहा है, मनाया जाता रहेगा।

यद्यपि 'तीर्थकर' नामक पुण्य प्रकृति का उदय-अरहंत अवस्था में केवलज्ञान होने पर तेरहवें गुणस्थान में आता है, तथापि उस

तीर्थकर प्रकृति के साथ ऐसा सातिशय पुण्य भी बंधता है, जिसके फलस्वरूप गर्भ, जन्म, तप कल्याणक के मंगल महोत्सव मनाये जाते हैं। तीर्थकर प्रकृति के फल में तो उनकी वाणी में ऐसी सातिशय सामर्थ्य प्रकट होती है कि उनकी निरक्षरी वाणी (दिव्यध्वनि) को श्रोता अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं।

तीर्थकर जन्म से ही मति-श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारी होते हैं। वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी जन्म से ही होते हैं; अतः संसार, शरीर और भोगों की क्षण भंगुरता और असारता से भी भली-भांति परिचित होते ही हैं; फिर भी अनेक तीर्थकर तो बहुत लम्बे समय तक घर-गृहस्थी में रहकर राज-काज करते रहे। इसी वर्तमान चौबीसी के आद्य तीर्थकर भगवान ऋषभदेव को ही देखो न! उनकी चौरासी लाख पूर्व की कुल आयु थी, जिसमें तेरासी लाख पूर्व तक तो राज्य ही करते रहे। न केवल राज्य करते रहे, बल्कि राज्य और परिवार के बीच रहकर लौकिक सुख भी भोगते रहे। नीलांजना का नृत्य देखते-देखते मृत्यु ही तो उनके वैराग्य का निमित्त बनी थी न! शान्तिनाथ, कुन्धुनाथ और अरनाथ तो चक्रवर्ती पद के धारक भी थे, जिनके छह खण्ड की विभूति और छियानवें हजार रानियां थीं।

यद्यपि नृत्य करती नीलांजना की मौत और जनता का स्वार्थीपना तो उनके वैराग्य का मात्र बाह्य-निमित्तकारण था, जो वस्तुतः अकिंचित्कर होता है। जबतक उपादान कारण में दीक्षा लेने की तत्समय की योग्यता न आई हो तब तक दीक्षा नहीं हो सकती थी। प्रत्येक कार्य अपने पांच समवाय पूर्वक ही तो होता है, जिसमें पुरुषार्थ, होनहार एवं काललब्धि प्रमुख हैं। इनके सुमेल के बिना भी कोई कार्य निष्पन्न नहीं होता।

तीर्थकर जब भी दीक्षा लेते हैं, स्वयं ही दीक्षित होते हैं। वे किसी से दीक्षा लेते भी नहीं हैं और किसी को दीक्षा देते भी नहीं हैं। वे दीक्षा लेते ही मुनि अवस्था में मौन से ही रहते हैं। उनका अधिकांश समय आत्मा में स्थिर होने हेतु अन्तर्मुखी पुरुषार्थ में ही व्यतीत होता है।

केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् ॐ के रूप में उनकी निरक्षरी या एकाक्षरी दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है। वे किसी एक व्यक्ति के

लक्ष से एक भाषा विशेष में उपदेश नहीं देते। किसी के प्रश्नों का उत्तर भी नहीं देते। उनकी इस दिव्यध्वनि का ऐसा अतिशय होता है कि श्रोताओं के मन में जो भी प्रश्न उठते हैं, जो भी जिज्ञासा होती है, उसका सहज समाधान स्वतः ही हो जाता है। उनकी दिव्यध्वनि में तो द्वादशांग के रूप में वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन ही होता है। चार अनुयोगों की शैली में जो जिनवाणी आचार्यों द्वारा करुणाबुद्धि से सरल प्रश्नोत्तरी की शैली में लिपिबद्ध हुई, उसी दिव्यध्वनि का सार शास्त्र के रूप में हमें उपलब्ध हैं।

तीर्थकर भगवान की इस धर्मसभा को ही **समोशरण** कहते हैं। इस धर्मसभा की रचना इन्द्र द्वारा की जाती है। धर्मसभा में श्रोता मनुष्य, देव तो होते ही हैं, पंचेन्द्रिय संज्ञी पशु भी होते हैं, सभी वैर-विरोध भूलकर धर्माभ्युत्थ का पान करते हैं। यह धर्मसभा तीर्थकर अरहंत की आयु पर्यन्त चलती रहती है। अन्त में जब तीर्थकरों का निर्वाण होता है, तब इन्द्रों द्वारा उनका निर्वाणकल्याणक महोत्सव मनाया जाता है, और फिर वे सिद्ध पद प्राप्तकर अनन्तकाल तक अनन्त सुख में मग्न रहते हैं।

साक्षात् तीर्थकर भगवान के अभाव में उनके पावन उपदेशों एवं आदर्शों का अनुकरण करने हेतु एवं उनकी मंगलमय उक्त घटनाओं के निमित्त से अपने जीवन को मंगलमय बनाने हेतु जो नवनिर्मित तदाकार जिनबिम्बों की विधि-विधानपूर्वक प्रतिष्ठा होती है, उनमें पूज्यता स्थापित करने के लिए ये पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव किए जाते हैं, ये उन्हीं असली पंच-कल्याणकों की सत्यापित, प्रमाणित आदर्श प्रस्तुति है। मंच पर जो पांचों कल्याणकों का आगम के अनुरूप आकर्षक, शिक्षाप्रद एवं प्रेरणाप्रद प्रदर्शन होता है, वह तो मात्र उपस्थित जनता की सामान्य जानकारी हेतु ही होता है, साथ ही प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा मंच के पीछे वेदी में विराजमान जिनबिम्बों की विधि-विधानपूर्वक मंत्रों द्वारा स्थापना निक्षेप से प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न होती है, जिससे उनमें पूज्यता आती है।

इसप्रकार पंचकल्याणक महोत्सवों के माध्यम से प्रतिष्ठित प्रतिमायें

साक्षात् समवसरण में विराजमान जिनेन्द्र के समान ही भव्यजीवों को सम्यग्दर्शन में निमित्त होती हैं।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि साक्षात् समोशरण में भी तो हमें इन चर्मचक्षुओं से तीर्थकर भगवान का परम औदारिक शरीर ही दिखाई देता है। उनके आत्मा के दर्शन तो हमें वहाँ भी नहीं होते। अतः हमारे लिए तो हमारा जिनमन्दिर ही तीर्थकर भगवान का समवसरण है, जिनप्रतिमा ही जिनेन्द्र देव हैं और शास्त्र ही उनकी साक्षात् दिव्यध्वनि का सार है।

जब तीर्थकर भगवान का केवलज्ञानकल्याणक के पूर्व तपकल्याणक होता है, तब उनके वैराग्य के प्रसंगों का जो सशक्त प्रदर्शन होता है, वह हजारों भव्यजीवों को वैराग्य में प्रेरक बनता है, अनेक व्यक्ति ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते हैं, अनेक मन ही मन विषय-कषायों से विरक्त होते हैं। पाप प्रवृत्तियों को त्यागने की भावना भाते हुए सन्मार्ग में लगते हैं। दिल खोलकर चारों प्रकार का दान देते हैं। घर-घर में जिनवाणी पहुँचाने का कार्य दानदाताओं द्वारा किया जाता है।

महीनों पहले से धार्मिक वातावरण बन जाता है। नवनिर्मित जिनमन्दिर हजारों वर्षों तक भव्यात्माओं को मोक्षमार्ग के निमित्त बनते हैं। देश में आतंकवाद, चोरी, डकैती, ठगी, दुराचार आदि की दुष्प्रवृत्तियाँ जो शासन के लिए सदैव सरदर्द बनी रहती हैं— उन पर भी इन धार्मिक भावनाओं के प्रचार-प्रसार से बहुत कुछ अंकुश लगता है—इस प्रकार ये महोत्सव देश की लौकिक समस्याओं को सुलझाने में भी साधन बनते हैं। सभी भव्य जीव इन आयोजनों से सतत लाभ लेते रहें— इस मंगलभावना के साथ विराम।

— ऐसे क्या पाप किए

कर्मों का स्वरूप एवं संख्या

पुद्गल स्थूल रूप से 22 प्रकार के होते हैं। उनमें एक प्रकार के वे पुद्गल हैं, जो कर्म रूप परिणत होते हैं, उन्हें कार्माण वर्गणायें कहते हैं।

ये कार्माण वर्गणाये जीवों के राग-द्वेष-मोह रूप भावों का निमित्त पाकर जब पुद्गल 'कर्म' रूप परिणत होते हैं— उन्हें **द्रव्यकर्म** कहते हैं। जीव के मोह-राग-द्वेष आदि भाव **भावकर्म** कहलाते हैं।

मूलतः द्रव्य कर्म आठ प्रकार के होते हैं (1) ज्ञानावरण (2) दर्शनावरण (3) वेदनीय (4) मोहनीय (5) आयु (6) नाम कर्म (7) गोत्र कर्म एवं (8) अन्तराय कर्म। इनमें जो जीव के अनुजीवी (भावरूप) गुणों को घातते हैं, उन्हें घातियां कर्म कहते हैं तथा जो जीव के प्रति जीवी (अभाव रूप) गुणों का घात करते हैं उन्हें अघातिया कर्म कहते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय— ये चार घातिया कर्म हैं, शेष-वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र— ये चार अघातिया कर्म हैं।

प्रश्न — ये भावकर्म क्या होते हैं, जरा स्पष्ट करके समझायें?

उत्तर — द्रव्यकर्म के उदय में जो आत्मा में मोह-राग-द्वेष रूप विकारी भाव होते हैं, उन्हें भावकर्म कहते हैं तथा कार्माण वर्गणाओं का कर्मरूप परिणत होना द्रव्यकर्म है। मूल में उपर्युक्त कर्म आठ प्रकार के हैं तथा इनके भेद करते हैं तो वे 148 प्रकार के होते हैं। ज्ञानावरण कर्म के 5 भेद हैं— दर्शनावरण कर्म के 9 भेद हैं। वेदनीय कर्म के 2 भेद हैं, मोहनीय कर्म के 28 भेद हैं, आयु कर्म के 4 भेद हैं, नामकर्म के 93 भेद हैं, गोत्र कर्म 2 प्रकार का है तथा अन्तराय कर्म के 5 भेद हैं। सब मिलाकर कर्म के 148 भेद हो जाते हैं।

ज्ञान पर आवरण करने वाला कर्म ज्ञानावरणी कहलाता है। इनके निम्न पांच भेद हैं— मतिज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनःपर्याय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। दर्शनावरणी कर्म 9 प्रकार के निम्न हैं— चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला तथा प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि। वेदनीय कर्म के 2 भेद हैं सातावेदनीय और असातावेदनीय। मोहनीय कर्म के भेदों में 25 कषाय और मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व — इसप्रकार कुल 28 भेद हैं। आयु कर्म के 4 भेद हैं— मनुष्यआयु, देवायु, तिर्यचआयु और नरकआयु तथा नामकर्म के 93 भेद हैं और गोत्रकर्म के दो भेद हैं — 1 नीच गोत्र एवं उच्च गोत्र

तथा अन्तराय कर्म के 5 भेद हैं— दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय — ये सब मिलाकर 148 भेद होते हैं।

ज्ञानावरणी कर्म ज्ञानगुण को घातने में निमित्त होता है, इसीप्रकार दर्शनावरणी कर्म दर्शन पर आवरण करता है। मोहनीय कर्म श्रद्धा व चारित्र गुणों को घातता है, आयुर्कर्म के निमित्त से चारों गतियों में जाना होता है। नामकर्म शरीर की रचना करता है। गोत्र कर्म नीच-ऊँच गतियों में पहुँचाने में तथा अन्तराय कर्म विघ्न (बाधा) उत्पन्न करने में निमित्त होता है।

कर्मबन्ध के कारण

1. ज्ञानावरण : दूसरों के ज्ञान प्राप्त करने में बाधक बनना, पुस्तकों चुरा लेना आदि से ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है।
2. दर्शनावरण — जिनदर्शन में बाधक बनना।
3. वेदनीय — दुःख करना, शोक करना, पश्चाताप करना आदि से वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।
4. मोहनीय — मिथ्या उपदेश देने आदि से मोहनीय कर्म बंधता है।
5. आयु — मायाचार से मुख्यता तिर्यच, क्रोध की मुख्यता से नरक, मान की मुख्यता से मनुष्य एवं लोभ कषाय की मुख्यता से देवों में जाना होता है।
6. नाम — नाम कर्म के बंध के अनेक कारण हैं जो स्थानाभाव से यहाँ देना संभव नहीं है।
7. गोत्र — दूसरों की निन्दा व अपनी प्रशंसा से नीचगोत्र बंधता है।
8. अन्तराय — दूसरों के कार्यों में विघ्न डालना आदि से अन्तराय कर्म बंधता है।

निबन्ध साहित्य के झरोखे से

1. णमोकार महामंत्र : दिशाबोधक कृति

गद्य में लिखी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की 96 पृष्ठ की पुस्तक 'णमोकार महामंत्र' आज के युवा वर्ग की दिशाबोधक कृति बन

1. हरिवंशकथा पृष्ठ 46, अ. 1 — शलाका पुरुष भाग-1, पृष्ठ 226

गई है। पण्डित श्री भारिल्लजी की अध्यात्म के आलोक में जीवन व जगत को देखने की दृष्टि निःसंदेह अलौकिक है। आप ने प्रचलित मनोवैज्ञानिक शैली को आधार बनाकर बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत पुस्तक लिखी है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व तक अधिकांश युवक महामंत्र के वास्तविक स्वरूप व अर्थ से अपरिचित थे।

इस पुस्तक से उन्हें णमोकार महामंत्र के विषय में सही जानकारी मिली है।

पण्डित भारिल्लजी के द्वारा महामंत्र के सम्बन्ध में लिखित पुस्तक के यथार्थ ज्ञान से प्रचलित किंवदन्तियों की वास्तविकता ध्यान में आ गई है।

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल ने इस पुस्तक में मंगल, उत्तम व शरण की व्याख्या बड़ी सुन्दरता से की है। आदि-अनादि की अपेक्षा को तर्क संगत ढंग से समझाया है। इस पुस्तक में स्वयं ही प्रश्न उठाकर उनका समाधान करने की पद्धति एक नया प्रयोग है। 'ण' की ध्वनि को 'न' से अधिक प्रभावशाली बताया है।

वैदिक परम्परा में जो महत्त्व गायत्री मंत्र को है तथा बौद्ध सम्प्रदाय में जो महत्त्व 'तिमरण' को प्राप्त है। वैसा ही महत्त्व जैनों में णमोकार महामंत्र का है। पुस्तक में कहा गया है कि भौतिक सफलता के लिए इसका प्रयोग करना उचित नहीं है।

यह भी कहा गया है कि महामंत्र तो मोह-राग-द्वेष रूप व्याधि का नाश करने के लिए परम औषधि है। विषय-वासना का विष हरने के लिए नागदमनी के समान है।

महामंत्र की महिमा व्यक्त करते हुए पण्डित भारिल्ल ने प्रस्तुत पुस्तक में बताया कि— यह महामंत्र शक्ति प्रदाता एवं पंचेन्द्रिय के विषय विष उतारने वाला है। अतः अपनी दिशा बदलें एवं अपनी दशा सुधारें।

अंत में यह प्रेरणा दी गई है कि हे युवकों! उठो! और प्रस्तुत णमोकार महामंत्र को मनोयोगपूर्वक पढो और चिंतवन करो। तुम्हारा कल्याण होगा।

2. द्रव्यदृष्टि : अनुपम कृति

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल की 'द्रव्यदृष्टि' एक अनुपम कृति है, जो सम्यग्दर्शन के विषय को सरल ढंग से स्पष्ट करती है। इस गूढ़ विषय को सरलतापूर्वक समझाने का प्रयास जो पण्डित भारिल्ल ने किया है, उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है -

'द्रव्यदृष्टि' में लेखक लिखता है कि- इस लोक में सत् स्वरूप जो छह द्रव्य हैं, वे दृष्टि के विषय में नहीं आते। तत्त्वार्थ- सूत्र में प्रतिपादित उत्पाद-व्यय-धौव्य युक्त सत्द्रव्य का लक्षण तथा 'गुण पर्ययवत्द्रव्यं' आदि सूत्र में प्रतिपादित वस्तु भी दृष्टि का विषय नहीं है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव-ऐसे चार अंश मिलकर जो वस्तु है, वह भी दृष्टि के विषय में नहीं आती। हाँ, द्रव्यार्थिकनय की विषयभूत वस्तु का ज्ञान एवं उसी का निर्विकल्प ध्यान ही द्रव्यदृष्टि है, यही दृष्टि का विषय है।

दृष्टि के विषय को समझने के लिए हमें पहले उन नयों की अपेक्षाओं को जानना होगा, जो हमें दृष्टि के विषय को अर्थात् सम्यक्श्रद्धा के श्रद्धेय को, निश्चयनय के विषयभूत ज्ञान के ज्ञेय को और परम ध्यान के ध्येय को बताते हैं।

'दृष्टि' शब्द में दो अर्थ समाहित हैं- एक श्रद्धा और दूसरा 'अपेक्षा'। श्रद्धा की तरफ से अगर हम दृष्टि के विषय का विचार करें तो 'हमारी दृष्टि का विषय क्या है' अर्थात् सत् श्रद्धा का श्रद्धेय, ज्ञान का ज्ञेय एवं ध्यान का ध्येय क्या है अर्थात् हम किस पर अपना सर्वस्व समर्पण करें, किसको अपने ज्ञान का ज्ञेय बनायें तथा हमारे ध्यान का ध्येय क्या हो? मेरी आत्मा भी एक द्रव्य है। यह भी सामान्य-विशेषात्मक वस्तु है। असंख्यात प्रदेशी अखण्ड इसका क्षेत्र है, नित्यानित्यात्मकता इसका स्वकाल है और एकानेकात्मकता इसका

स्वभाव है। स्वचतुष्टयात्मक वस्तु का नाम ही द्रव्य है— इन चार (चतुष्टय) में एक द्रव्यांश का नाम भी द्रव्य है जबकि दृष्टि का विषय अखण्ड है। अतः द्रव्यांश भी दृष्टि का विषय नहीं है।

संज्ञी—पंचेन्द्रिय—पर्याप्तक भव्य जीव मनुष्य गति, देवगति, नारक व तिर्यच — इन चारों गतियों में जिनदेव द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान का श्रवण—ग्रहण—धारण व निर्धारण कर सकता है। वह मिथ्यात्व का वमन कर, सम्यग्दर्शनपूर्वक कषायों का शमन करके स्वरूप में रमण कर सकता है तथा मनुष्यगति प्राप्त कर अतीन्द्रिय आनन्दरूप स्वरूपाचरण चारित्र एवं सकलचारित्र प्राप्त कर सिद्धपद प्राप्त कर सकता है। देश संयम तो तिर्यचगति में भी हो सकता है। शेष दो गतियों में अर्थात् नरक व देवगति में संयमधारण की योग्यता नहीं है। उन गतियों में मात्र सम्यग्दर्शन हो सकता है।

दृष्टि का विषय' अच्छी तरह समझने के लिए हमें मूल कृति का अवलोकन करना होगा। यहां तो मात्र उस विषय की जिज्ञासा ही जगाई जा सकती है। यद्यपि 'द्रव्यदृष्टि' कृति बहुत बड़ी नहीं है, फिर भी यहां पूरी विषयवस्तु का देना संभव नहीं है। अतः जिज्ञासुओं को मूल कृति का अवलोकन अवश्य करना चाहिए।'

द्रव्यदृष्टि अनुपम कृति है, इसे समझाने हेतु लेखक ने अनोखा प्रयास किया है। अतः मूल कृति का अवलोकन अवश्य करना चाहिए।

जन्म—मरण और समाधिमरण

पण्डित श्री रतनचन्द भारिल्ल ने स्वयं निम्न पद्य में लिखा है—

संन्यास और समाधि है, जीना सिखाने की कला।

बोधि—समाधि—साधना, शिवपन्थ पाने की कला।।

सल्लेखना कमजोर करती, काय और कषाय को।

निर्भीक और निःशंक कर उत्सव बनाती मृत्यु को।।

X

X

X

द्रव्यदृष्टि या दृष्टि के विषय की चर्चा शलाकापुरुष भाग-1 के 23-24 अध्याय में भी है, वहां से भी देख सकते हैं।

सल्लेखना है मृत्यु महोत्सव का जलजला।
 इससे होता है आत्मा का भला।।
 बन्धुओ! सल्लेखना को न समझो, मृत्यु की वला।
 अन्यथा यों ही चलता रहेगा संसरण का सिलसिला।।

मरण और समाधिमरण में जमीन-आसमान का अन्तर है। ये दोनों मानव के अन्तकाल (परलोक गमन) की बिल्कुल भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। यदि एक पूरब है तो दूसरी पश्चिम। एक अनन्त दुःखमय है, दुःखद है तो दूसरी अनन्त सुखमय है, सुखद है।

मरण की दुःखद स्थिति से सारा विश्व सुपरिचित है, पर समाधिमरण की स्वानुभूति से परिचित होने का सौभाग्य विरलों को ही मिलता है।

आत्मा की अमरता से अनभिज्ञ अज्ञानों की दृष्टि में मरण सर्वाधिक दुःखद, अप्रिय, अनिष्ट और अशुभ प्रसंग के रूप में मान्य रहा है। उनके लिए 'मरण' ऐसी अनहोनी अघट-घटना है, जिसकी कल्पना मात्र से अज्ञानियों का कलेजा कांपने लगता है, कंठ अवरुद्ध हो जाता है। हाथ-पांव फूल जाते हैं। उन्हें ऐसा लगने लगता है-मानों उस पर कोई अप्रत्याशित, अनभ्र-वज्रपात होने वाला है, जो उसका सर्वनाश कर देगा।

समस्त सुखद संयोग अनन्तकाल के लिए वियोग में बदल जायेंगे। ऐसी स्थिति में उनका 'मरण' समाधिमरण कैसे हो सकता है?

देह और जीव को एक मानने वाले मोही जीव की तो बात ही क्या करें? ज्ञानी जीव भी चारित्र मोह के कारण अज्ञानी जैसे दुःखी दिखाई दे सकते हैं, पर उनके और अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि के मरण में बहुत बड़ा अन्तर होता है, क्योंकि दोनों की श्रद्धा में अन्तर होता है।

स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य अज्ञानी मरणकाल में अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से प्राण छोड़ने के कारण नरकादि गतियों में जाकर असीम दुःख भोगता है। वहीं ज्ञानी मरण काल में वस्तु स्वरूप के चिन्तन से साम्यभाव पूर्वक देह विसर्जित करके मरण को समाधिमरण में अथवा मृत्यु को महोत्सव में परिणत करके स्वर्गादि उत्तम गतियों को प्राप्त कर लेता है।

दूरदृष्टि से देखें तो मृत्यु जैसा उपकारी कोई नहीं है, क्योंकि जीवों को सड़े-गले रोगी देह से छुड़ाकर दिव्य देह में पहुंचा देता है। कहा भी है—

मृत्युराज उपकारी जियको, तन सो तोहि छुड़ावै।

नातर यह तन बन्दीगृह में, पर्यो-पर्यो बिललावै।

“सल्लेखना का एक अर्थ है सत् + लेखना अर्थात् अपने त्रिकाली स्वभाव को सम्यक् प्रकार से देखना।”

सारांशरूप से कहें तो आधि, व्याधि एवं उपाधि से रहित परिणाम का नाम है समाधि। आधि यानि मानसिक रोग, व्याधि— शारीरिक रोग तथा उपाधि अर्थात् पर के कर्तृत्व का बोझ— इन तीनों से रहित आत्मा की निर्मल परिणति का नाम है समाधि, जिसमें न कोई चिन्ता है, न रोग है और न पर के कर्तृत्व का बोझा है। एकदम निराकुल, परमशान्त, अत्यन्त निर्भय और निःशंक भाव से जीवन जीने की कला ही सम्यक् समाधि है।

यह समाधि संवेग के बिना संभव नहीं है जिसे समाधि की भावना द्वारा सुखद जीवन जीने की कला आती है वही व्यक्ति सल्लेखना द्वारा मृत्यु को महोत्सव बना सकता है। समाधि अर्थात् समताभाव से सुख-शान्तिपूर्वक जीवन जीने की कला, मानव जीवन को सार्थक और सफल करने का क्रान्तिकारी कदम।

जगत भी हमें यह संदेश देता है, वह कहता है—

जब हम आये जगत में, जगत हंसा हम रोय।

अब ऐसी करणी कर चलो, पीछे हंसी न होय।।

पांचवां अध्याय

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य में चक्रवर्ती भरत का सामाजिक चित्रण

वर्ण व्यवस्था : चक्रवर्ती भरत द्वारा क्षत्रियों को चेतावनी

वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल के द्वारा लिखित शलाका पुरुष भाग-1 के पृष्ठ 201 सर्ग 16 पर उल्लेख है कि— “एक दिन राजसभा के बीच में सिंहासन पर विराजमान चक्रवर्ती भरतजी ने एकत्रित हुए अधीनस्थ राजाओं को क्षत्रिय धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने कहा — हे महानुभावो! आप लोगों को महाराज ऋषभदेव ने दुःखी प्रजा की रक्षा करने के लिए नियुक्त किया है। अतः आप लोगों को निम्नांकित पांच प्रमुख काम करने हैं—

- (1) कुल का पालन—पोषण एवं कुलाम्नाय की रक्षा करना।
- (2) प्रजा की सुबुद्धि में वृद्धि करना, उनके बालकों को पढ़ाने, लिखाने तथा उन्हें योग्य बनाने की व्यवस्था करना।
- (3) स्वयं के द्वारा प्रजा को सुरक्षित रखना।
- (4) सेवकों के प्रति अच्छा व्यवहार करना एवं उनकी रक्षा करना।
- (5) परस्पर सामंजस्य स्थापित करना अर्थात् एकता बनाकर रखना।

क्षत्रियों की कुल—आम्नाय में राजा ऋषभदेव ने सर्वप्रथम क्षत्रिय वर्ण स्थापित किया था। उस समय कर्मभूमि प्रारम्भ हो जाने से प्रजा दो प्रकार की पायी जाती थी। एक तो वह जिनकी रक्षा करनी थी और दूसरे वह जो रक्षा करने में समर्थ थे। अर्थात् जो प्रजा की रक्षा करने में हमेशा तैयार रहते थे, उन्हें ही वंश परम्परा में ‘क्षत्रिय’ कहा गया था।

यद्यपि यह क्षत्रियवंश बीज—वृक्ष के समान अनादि का है तथापि बीच—बीच में शिथिलता या अन्तराल हो जाने से क्षेत्र—काल की अपेक्षा पुनः—पुनः स्थापित किया जाता रहा। न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही क्षत्रियों का योग्य आचरण था।

धर्म का उल्लंघन कर धन न कमाना, अधीनस्थ जनता की रक्षा करना, उन्हें आगे बढ़ाना और सत्पात्रों को दान देना ही क्षत्रियों का कार्य था तथा वीतराग धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करना संसार में सबसे श्रेष्ठ कार्य माना जाता था। देखो, ऐसे क्षत्रिय पद की प्राप्ति रत्नत्रय के प्रताप से ही होती है। इसलिए बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए राजा लोग लोकोत्तम पुरुष माने गये हैं। ऐसे लोग स्वयं धर्म मार्ग में स्थित रहते हैं तथा अन्यों को भी स्थित रखते हैं।

तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव स्वयं क्षत्रिय वंश में पैदा हुए थे। न केवल ऋषभदेव ने बल्कि चौबीसों तीर्थंकर क्षत्रियों ने अपने गृहस्थावस्था में क्षत्रिय धर्म का कर्तव्यबोध कराते हुए तथा सभी क्षत्रियों को वीतरागी धर्म की महिमा बताते हुए उन्हें अहिंसामयी धर्म का पालन करने तथा सबको अहिंसा धर्म पालन कराने का संदेश दिया था। जो भी व्यक्ति तीर्थंकर ऋषभदेव के द्वारा बताये गये वीतराग धर्म का आचरण करेंगे, वे सब उनके अनुयायी होंगे तथा वे सभी प्रकार से उनके वंशज ही कहे जायेंगे। इस प्रकार भरतेश्वर के द्वारा क्षात्रधर्म को सुनकर एवं स्वीकार कर सब राजा कृतार्थ हो गये।

यद्यपि मनुष्य जाति एक ही है, तथापि आजीविका और आचरण के भेद से होने वाले भेद के कारण वह चार प्रकार की हो गई थी। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, अपनी और राज्य शासन की रक्षा हेतु शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक व्यापार द्वारा धन कमाने से वैश्य और तीनों वर्णों की सेवावृत्ति करने से मनुष्य शूद्र कहलाये।

व्रतों का आचरण करने वाला ही कर्मणा, ब्राह्मण था। अपने सत्कर्मों से ब्राह्मणत्व को प्राप्त जो जैन धर्मानुयायी ब्रह्मस्वरूप निज आत्मा को जानते थे, पहचानते थे, वे जैन भी कर्मणा ब्राह्मणवत ही थे। कहा भी है— “यः ब्रह्मां जानति सः ब्राह्मः” इस उक्ति के अनुसार जो आत्मा के स्वरूप को समझते थे, वे ब्राह्मण कहलाये तथा जो अहिंसक आचरण करते थे, चार अनुयोग रूप वेदों के रहस्य को जानते थे, वे वैश्य होकर भी ब्राह्मण ही थे। जो मलिन आचार-विचारों वाले थे, हिंसादि पाप कार्यों में प्रवृत्त रहते थे, दुर्व्यसनों का सेवन करते थे, वे उच्च कुल में जन्म लेकर भी शूद्र कहलाये।

वस्तुतः जाति विशेष में जन्म लेने से कोई छोटा-बड़ा नहीं होता, इस प्रकार राजा ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत द्वारा वर्ण व्यवस्था की गई थी।

भारिल्लजी के साहित्य में तात्विक चिन्तन

हरिवंशकथा में भारिल्लजी लिखते हैं कि —

'संसार में समस्त प्राणी दुःखी दिखाई देते हैं और वे दुःख से बचने का उपाय भी करते हैं, परन्तु प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की सही जानकारी एवं श्रद्धा न होने से दुःख दूर नहीं होता।

दुःख से बचना या दुःख दूर करना तथा सुखी होना ही जीव का सच्चा या वास्तविक प्रयोजन है और ऐसे तत्त्व जिनकी सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान बिना जीव का दुःख दूर न हो सके और जीव सुखी न हो सके अथवा जिनकी यथार्थ समझ व श्रद्धा बिना हमारा दुःख दूर न हो सके और हम सुखी न हो सकें, उन्हें ही प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं।

तत्त्व माने वस्तु का सच्चा स्वरूप। जो वस्तु जैसी है, उसका जो भाव, वही तत्त्व है। वे तत्त्व सात हैं— जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्षतत्त्व।

ज्ञान—दर्शन स्वभावी आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। जीवतत्त्व एवं जीवद्रव्य में मौलिक अन्तर है। विकारी—अविकारी पर्यायों (अवस्थाओं) से रहित, त्रिकाल ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा, कारणपरमात्मा जीवतत्त्व हैं तथा विकारी—अविकारी पर्यायों सहित जीव को जीवद्रव्य कहते हैं।

संख्या अपेक्षा जीव अनन्त हैं, अजीव अनन्तानंत हैं, आस्रव बंध—संवर निर्जरा रूप जो पुद्गल हैं, वे भी अनन्तानंत हैं। जीव की विकारी पर्यायें जीवतत्त्व नहीं हैं।

संख्या अपेक्षा जो जीव द्रव्य अनन्त हैं उसमें भी दो भेद हैं— (1) मुक्त (2) संसारी। मुक्त जीव वे हैं, जिन्होंने ज्ञानावरणादि आटकर्मों का अभाव कर दिया है तथा जिनमें सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चरित्र गुण प्रकट हो गये हैं एवं जिन्होंने सिद्ध अवस्था प्रकट कर ली है तथा संसारी जीव वे हैं जो चतुर्गति में भ्रमण कर रहे हैं। संसारी जीवों के मूलतः दो भेद (1) त्रस (2) स्थावर। दो इन्द्रिय जीवों से पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं तथा एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं।

स्थावर के भी 5 भेद हैं— पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय। त्रस 4 प्रकार के हैं— दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरइन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय हैं। पंचेन्द्रिय के दो भेद हैं— 1. संज्ञी, 2. असंज्ञी। जो मन सहित हैं, उन्हें संज्ञी कहते हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय व चार इन्द्रिय को विकलत्रय कहते हैं।

अजीवतत्त्व — जिनमें ज्ञान-दर्शन चेतना नहीं पायी जाती, वह पुद्गल का शुद्धपरमाणु, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश व काल सब अजीव तत्त्व हैं। ये जीव व अजीव दो द्रव्य तत्त्व हैं।

सामान्य रूप से तो जीव व अजीव दो ही तत्त्व हैं। आस्रव आदि तो जीव-अजीव के ही विशेष हैं, किन्तु जहाँ मोक्ष का प्रयोजन हो, वहाँ आस्रवादि पांच पर्याय रूप तत्त्वों को जानना भी जरूरी है।

उक्त सातों के यथार्थ श्रद्धान बिना मोक्षमार्ग नहीं बन सकता; क्योंकि जीव अजीव को जाने बिना अपने-पराये का भेद कैसे हो? मोक्ष के पहचाने बिना और हितरूप माने बिना उसका उपाय कैसे करें? मोक्ष का उपाय संवर-निर्जरा है। अतः उनका जानना भी आवश्यक है तथा आस्रव का अभाव तो संवर है और बंध का एकदेश अभाव सो निर्जरा है। अतः इनको जाने बिना संवर-निर्जरा रूप कैसे प्रवर्तें? अतः सातों तत्त्वों का जानना आवश्यक है।

आस्रव तत्त्व — जिन मोह-राग-द्वेष भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन मोह-राग-द्वेष भावों को भावस्रव कहते हैं तथा उस भावस्रव के निमित्त से जो ज्ञानावरणादि रूप द्रव्य कर्मों का आना होता है वह द्रव्यास्रव है।

बंध तत्त्व — आत्मा का अज्ञान, मोह-राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विभावभावों में रूक जाना सो भाव बंध है और उसके निमित्त से पुद्गलों का स्वयं कर्मरूप बंधना सो द्रव्यबंध है।

संवर तत्त्व — पुण्य पाप के विकारी भावों को, आस्रव भावों को आत्मा के शुद्ध (वीतराग) भावों से रोकना तो भाव संवर है और तदनुसार नये आते हुए द्रव्य कर्मों का रूक जाना द्रव्य संवर है।

निर्जरा तत्त्व — ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा के लक्ष्य के बल से स्वरूप स्थिरता की वृद्धि द्वारा आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशभ) अवस्था का आंशिक नाश होना भाव निर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़ कर्मों (द्रव्यकर्मों) का अंशतः खिर जाना सो द्रव्य निर्जरा है।

मोक्ष तत्त्व — अशुद्ध दशा का सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर आत्मा की पूर्ण निर्मल पवित्र दशा का प्रकट होना भाव मोक्ष है और निमित्त कारण रूप द्रव्यकर्मों का सर्वथा नाश (अभाव) होना सो द्रव्यमोक्ष है।

उक्त सात तत्त्वों को भली-भांति जानकर एवं समस्त परतत्त्वों से दृष्टि हटाकर अपने आत्म तत्त्व पर दृष्टि ले जाना ही सम्यग्दर्शन है और यही सच्चे सुख प्राप्त करने का सच्चा उपाय है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्य चार गति में भटकने का कारण है।

प्रश्न :- ये भाव कर्म क्या हैं ?

उत्तर :- द्रव्य कर्म के उदय में यह जीव जो मोह-राग-द्वेष रूपी विकारी भाव करता है, उन्हें भावकर्म कहते हैं और उन मोह-राग-द्वेष भावों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणा कर्मरूप परिणमित होकर आत्मा से सम्बन्ध करती हैं उसे द्रव्यकर्म कहते हैं।

मूल रूप में कर्म आठ प्रकार के होते हैं। इन आठ प्रकार के कर्मों में ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय- ये चार घातिया कर्म कहलाते हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र-ये चार अघातिया कर्म कहलाते हैं। जो कर्म जीव के अनुजीवी गुणों का घात करें वे घातिया कर्म हैं और जो कर्म आत्मा के अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त न हों उन्हें अघातिया कर्म कहते हैं।

प्रश्न :- जीव द्रव्य में जो जीव के तीन भेद किये गये हैं, उनका स्वरूप क्या है? और वे तीन भेद कौन-कौन हैं, कृपया बताइये न?

उत्तर :- हां! सुनो! जीव के तीन भेद निम्न प्रकार हैं— (1) बहिरात्मा (2) अन्तरात्मा (3) परमात्मा। परमात्मा के दो भेद हो जाते हैं। 1. सकल परमात्मा 2. निकल परमात्मा। चार घातिया कर्मों का अभाव करने वाले अरहंत भगवान सकल परमात्मा है और आठों कर्मों का अभाव करने वाले सिद्ध जीव निकल परमात्मा हैं। जो शरीर और आत्मा को एक मानते हैं, उनमें भेद नहीं करते अर्थात् देह को ही आत्मा मानते हैं, वे बहिरात्मा हैं, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरति तथा पंचम गुणस्थान वाले देशव्रती सम्यग्दृष्टि एवं मुनिजन अन्तरात्मा है तथा सम्पूर्ण कर्मों का अभाव करने वाले जीव परमात्मा हैं। यही जीव सम्बन्धी विशेष कथन हैं।

महाराज नाभिराय कुलकर (मनु) भी थे

ऋषभदेव के पिता राजा नाभिराय ने प्रजा को आश्वस्त करते हुए कहा— आप लोग निर्भय रहें। यद्यपि कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं; किन्तु ये फलों से बोझिल नीचे झुके हुए वृक्ष और अन्न से लहराते खेत ही तुम्हारे कल्पवृक्ष हैं। इनसे तुम्हें मनचाही भोज्य सामग्री की प्राप्ति होगी। कुछ जहरीले फल हैं, उन्हें मत खाना।

इस तरह राजा नाभिराय ने प्रजा को खाने—पीने के विषय में खूब विस्तार से बताया, जिससे प्रजा बहुत प्रसन्न हुई।

ज्ञातव्य है कि कितने ही कुलकरों को जाति स्मरण ज्ञान था। मानवों को जीवनदान देने के कारण उनको मनु भी कहते हैं। आर्य पुरुषों को कुल की भांति संगठित रहने के उपदेशक होने से कुलकर भी कहते हैं। भगवान ऋषभदेव के साथ अन्य कुलकर भी थे इन्होंने अनेक वंश स्थापित किए, इसलिए भी इन्हें कुलकर कहते हैं। चक्रवर्ती भरतजी भी कुलकर थे।

इसी प्रकार— देश, नगर, राज्य, तीर्थ, तप, दान के वर्णन को क्रमशः देशाख्यान, नगराख्यान, राजाख्यान आदि नामों से वर्णन किया जाता है।

पौराणिक कथाओं में इन सबका वर्णन आवश्यकतानुसार होता है। निरीश्वरवादी दर्शन के अनुसार विश्व अनादि—अनन्त है।

यहां ज्ञातव्य है कि भगवान आदिनाथ जन्म से भगवान नहीं थे, भगवान तो बाद में बने, जैनदर्शन के अनुसार जन्म से कोई भगवान नहीं होता। जन्म तो बालक ऋषभदेव का हुआ था, उनकी आयु 84 लाख पूर्व की, 83 लाख पूर्व तक वे गृहस्थी में रहे, अंत में केवल जब एक लाख पूर्व शेष बचा तब भी उन्हें वैराग्य नहीं हुआ तो इन्द्र को चिंता हुई कि ये तीर्थकर का जीव है, इसे तो मुक्ति प्राप्त करना है, अभी तक वैराग्य नहीं हुआ तो उसने तिलोत्तमा नाम की उस देवांगना को राज दरबार में नृत्य करने भेजा, जिसकी आयु समाप्त होने वाली थी। वह नृत्य करते—करते ही दिवंगत हो गई तो इन्द्र ने दूसरी नर्तकी की तुरन्त व्यवस्था कर दी, परन्तु यह बात ऋषभदेव

में छिपी नहीं रही, क्योंकि वे तो अवधिज्ञानी थे। अतः उसकी मृत्यु देख कर उन्हें वैराग्य हो गया और वे राजपाट को छोड़ कर वैरागी होकर वनवासी दिगम्बर साधु बनकर आत्म साधना करके केवलज्ञान प्रकट कर मोक्ष पधारे।

यहां मैं (शोधकर्ता) यह बताना चाहता हूँ कि राजा ऋषभदेव जब राज्य अवस्था में थे तब उन्होंने कल्पवृक्ष की व्यवस्था समाप्त होने पर जैसी समाज व्यवस्था की थी, राजा होने के नाते उन्होंने राज व्यवस्था भी की थी।

पाठको! आपके मन में यह प्रश्न हो सकता है कि 84 लाख पूर्व कितने होते हैं तो आप कल्पना करो कि जिसकी आयु चौरासी वर्ष की हो और 83 वर्ष तक राज्य में मस्त रहें तो व्यवस्थापक को चिंता होना स्वाभाविक ही है।

इसी कारण इन्द्र ने तिलोत्तमा भेजी ताकि राजा ऋषभदेव को वैराग्य हो जाये।

जैनेत्तर दर्शन में ब्रह्म और माया

'दर्शन' शब्द के दो अर्थ होते हैं— एक देखना और दूसरा— श्रद्धान करना अर्थात् धर्म के सम्बन्ध में मान्यता होना। धार्मिक एवं सैद्धान्तिक विचारों को तर्क की कसौटी पर कसना फिर तदनुसार अपनी मान्यता बनाना जैसे— जैनदर्शन अर्थात् जैनों की धर्म के सम्बन्ध में क्या मान्यता है? तथा बौद्ध धर्म आदि धर्म को किस प्रकार मानते हैं?— ये सब बातें जहाँ हों, उस धर्म को दर्शन, मत या मान्यता कहते हैं। जिनके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जाये, वह दर्शन है।

हिन्दू दर्शन अनेक भागों में बंटा है। जैसे— सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म एक है— वह एक ब्रह्म ही सबका कर्ता है। ब्रह्मवादियों के अनुसार ब्रह्म चैतन्य है तथा माया जड़ है। दोनों में समवाय सम्बन्ध है।

माया से ब्रह्म स्वयं तो भ्रमरूप होता नहीं, किन्तु माया से जीव भ्रमरूप होता है।

माया होने पर लोक उत्पन्न हुआ, वहाँ जीवों के जो चेतना है, वह तो ब्रह्मस्वरूप है, शरीर आदि माया है। वहाँ जिस प्रकार

भिन्न-भिन्न बहुत से पात्रों में जल भरा है, उन सबमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब अलग-अलग पड़ता है, चन्द्रमा एक है, उसीप्रकार अलग-अलग बहुत शरीरों में ब्रह्म का चैतन्य प्रकाश अलग-अलग पाया जाता है, पर ब्रह्म एक है। इसलिए जीवों के जो चेतना है वह ब्रह्म की है।

ब्रह्म शरीर को चेतन नहीं करता, जीव को चेतन करता है।

माया होने पर लोक उत्पन्न हुआ, वहाँ जीवों के जो चेतना है, वह तो ब्रह्मरूप एक है, शरीरादिक माया अनेक रूप है। जिसप्रकार भिन्न-भिन्न बहुत से पात्रों में जल भरा है, उन सबमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब अलग-अलग पड़ता है, पर चन्द्रमा एक है, इसलिए जीवों के जो चेतना है, वह ब्रह्म की है—ऐसा ब्रह्मवादी मानते हैं। सांख्य मानते हैं कि— माया से 3 गुण उत्पन्न हुए— राजस, तामस और सात्विक। मानादि कषाय रूप भाव को राजस कहते हैं, क्रोधादि कषाय रूप भाव को तामस कहते हैं तथा मंदकषाय रूप भाव को सात्विक कहते हैं।

राजस तामस और सात्विक गुणों की अपेक्षा ब्रह्मा, विष्णु व महेश हुए कहते हैं।

चार्वाक मत का स्वरूप

चार्वाक मत के अनुसार कोई सर्वज्ञ ही नहीं है, धर्म, अधर्म, मोक्ष आदि भी सब मिथ्या हैं, कल्पना मात्र हैं। उनके मतानुसार पुण्य-पाप एवं उनका फल—सब मिथ्या है। पर लोक भी नहीं हैं। उनका तो यह कहना है कि—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

जब तक जियो सुख से जियो, कर्ज करके घी पियो, देह के भस्म हो जाने पर, पुनः आगमन ही नहीं होता।

चार्वाक यह भी कहते हैं कि— पथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश मिलने से चेतना हो जाती है तथा चार्वाक मतानुसार खाना-पीना, भोग-विलास करना इत्यादि स्वच्छंदता है। आराम से खाओ-पिओ और मौज करो।

मीमांसक मत

यह मीमांसक मत दो प्रकार का है— (1) ब्रह्मवादी (2) कर्मवादी। ब्रह्मवादी कहते हैं कि — “यह सब एक ब्रह्ममय ही है, अन्य कुछ भी नहीं है। ऐसा वेदान्त में अद्वैत ब्रह्म का कथन किया है तथा वे आत्मा में लय होने को ही मुक्ति मानते हैं।

कर्मवादी क्रिया, आचार, यज्ञ आदि कार्यों का कर्तव्यपना कहते हैं। इनके मत में ‘भट्ट’ और ‘प्रभाकर’ द्वारा हुई दो पद्धतियाँ हैं। भट्ट तो छह प्रमाण मानते हैं — (1) प्रत्यक्ष (2) अनुमान (3) वेद (4) उपमा (5) अर्थापत्ति और (6) अभाव।

प्रभाकर अभाव को छोड़कर 5 प्रमाण मानते हैं।

जैमिनीय मत :— इस मत में सर्वज्ञ देव कोई नहीं है। वेदवचन नित्य हैं, उन्हीं से यथार्थ निर्णय होता है, इसलिए पहले वेदपाठ द्वारा क्रिया में प्रवर्तना है लक्षण जिसका— ऐसे धर्म का साधन करना। कहा भी है —

“स्वःकामोऽग्निं यजेत्” स्वर्गाभिलाषी अग्नि को पूजे, इत्यादि निरूपण करते हैं। वे कहते हैं कि अग्नि को पूजने से स्वर्ग होता है। ये वेद को ही ब्रह्म मानते हैं।

वैशेषिक मत और उनके दर्शन का स्वरूप

वैशेषिक मत में 6 तत्त्व होते हैं— 1. द्रव्य 2. गुण, 3. कर्म, 4. सामान्य 5. विशेष और 6. समवाय।

वैशेषिक के मत में द्रव्य 9 प्रकार के हैं— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। इनमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। वे परमाणु नित्य हैं। उनसे कार्य रूप पृथ्वी आदि होते हैं, वे अनित्य हैं।

इन पृथ्वी आदि का कहीं पृथक स्वरूप ठहराते हैं।

वैशेषिक मत में गुण 24 प्रकार के होते हैं— स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिणाम, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, द्रव्यत्व।

वे कर्म पांच प्रकार कहते हैं — 1. उत्क्षेपण 2. अवक्षेपण
3 आ. कुंचन 4. प्रसारण 5. यमन।

सामान्य दो प्रकार के हैं — 1. पर 2. अपर। 'पर' तो सत्ता
रूप है तथा अपर द्रव्यत्व आदि रूप है।

वैशेषिक दो ही प्रमाण मानते हैं — 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान
इनके सत्य-असत्य का निर्णय न्याय ग्रन्थों से जाना जा सकता है।

शिवमत के ये दो भेद हैं— 1. नैयायिक मत 2. वैशेषिक मत

नैयायिक मत में जो 16 तत्त्व होते हैं— वे इस प्रकार हैं — (1)
प्रमाण (2) प्रमेय (3) संशय (4) प्रयोजन (5) दृष्टान्त (6) सिद्धान्त
(7) अवयव (8) तर्क (9) निर्णय (10) वाद (11) जल्प (12) वितंडा
(13) हेत्वाभास (14) छल (15) जाति (16) निग्रहस्थान।

नैयायिक में माने गये 16 तत्त्वों की परिभाषायें निम्न प्रकार हैं—

1. प्रमाण :- 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. शब्द और 4. उपमान
ये 4 प्रमाण हैं।
2. प्रमेय :- आत्मा, देह, अर्थ, बुद्धि आदि प्रमेय हैं।
3. संशय :- 'यह क्या है' इसका नाम संशय है।
4. प्रयोजन :- जिसके अर्थ प्रवृत्ति हो, वह प्रयोजन है।
5. दृष्टान्त :- जिसे वादी-प्रतिवादी माने, वह दृष्टान्त है।
6. सिद्धान्त :- दृष्टान्त द्वारा जिसे सिद्ध करें वह सिद्धान्त हैं।
7. अवयव :- अनुमान के प्रतिज्ञा आदि पांच अंग अवयव हैं।
8. तर्क :- संशय दूर होने पर किसी विचार से ही कहा सो
तर्क है।
9. निर्णय :- प्रतीति रूप जानना सो निर्णय है।
10. वाद :- आचार्य शिष्य पक्ष-विपक्ष द्वारा अभ्यास करना वाद है।
11. जल्प :- जानने की इच्छा रूप कथा में जो छल जाति आदि
दूषण हो सो जल्प हैं।
12. वितंडा :- प्रतिपक्ष रहित विवाद वितंडा है।

13. हेत्वाभास :- जो सच्चे हेतु नहीं हैं ऐसे असिद्ध आदि भेद सहित हेत्वाभास हैं।
14. छल :- छल सहित वचन छल हैं।
15. जाति :- जो सच्चे दूषण नहीं - ऐसे दूषणाभास जाति है।
16. निग्रहस्थान :- जिससे प्रतिवादी का निग्रह हो, वह निग्रह स्थान है।

इस प्रकार नैयायिक मत का सामान्य परिचय कराया।

बौद्धमत या बौद्धदर्शन

बौद्धमत में चार आर्य सत्य हैं - 1. दुःख 2. आयतन 3. समुदाय 4. मार्ग। संसारी जीव के स्कन्धरूप दुःख हैं। वह दुःख पांच प्रकार का है- 1. विज्ञान 2. वेदना 3. संज्ञा 4. संस्कार 5. रूप।

1. विज्ञान :- सर्पादिक का जानना विज्ञान है।
2. वेदना :- दुःख-दुःख का वेदन करना वेदना है।
3. संज्ञा :- सोते का जगाना संज्ञा है।
4. संस्कार :- पढ़े को याद कराना संस्कार है।
5. रूप :-रूप का धारण रूप है।

आयतन :- आयतन बारह हैं- पांच इन्द्रियां और उनके शब्दादि पांच विषय, एक मन और एक धर्मायतन।

समुदाय :- जिससे रागादिक का गण उत्पन्न होता है, ऐसा आत्मा और आत्मीय है नाम जिसका, वह समुदाय है।

मार्ग :- सर्व संस्कार क्षणिक हैं, ऐसी वासना वह मार्ग है।

इसके सिवाय बौद्धमत में दो प्रमाण माने जाते हैं जो इस प्रकार हैं।

1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान। इनके सत्यासत्य का निरूपण जैन शास्त्रों में है, जिज्ञासु जीव वहां से जान सकते हैं, विस्तारभय से यहाँ देना संभव नहीं है।

बौद्धसेण सुगत को देव मानते हैं और उनका स्वरूप नग्न एवं विक्रिया रूप मानते हैं तथा कमण्डल और रक्तामर के धारी, पूर्वार्द्ध में भोजन करने वाले इत्यादि लिंगरूप बौद्धमत के भिक्षुक हैं।

इस प्रकार बौद्धों के चार प्रकार हैं— 1. वैभाषिक 2. सौत्रांतिक 3. योगाचार 4. माध्यमिक ।

उनमें वैभाषिक तो ज्ञान सहित पदार्थ को मानते हैं; सौत्रांतिक का मानना है कि जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, वही है, इससे परे कुछ नहीं। योगाचारों के आचार सहित बुद्धि पायी जाती है तथा माध्यमिक पदार्थ के आश्रय बिना ज्ञान ही को मानते हैं।

जैन मत या जैन दर्शन

जैनदर्शन में छह द्रव्य, सात तत्त्व एवं सात तत्त्वों में पुण्य और पाप को जोड़ने से नौ तत्त्व या नौ पदार्थ हो जाते हैं।

छह द्रव्यों के नाम :- जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य एवं कालद्रव्य, संख्या अपेक्षा जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनंतानन्त हैं, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है तथा कालद्रव्य असंख्य हैं।

तत्त्व सात हैं :- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष।

जीव तीन तरह के होते हैं। 1. बहिरात्मा 2. अन्तरात्मा 3. परमात्मा।

दूसरे प्रकार के भेद :- एक संसारी। दूसरे मुक्त।

संसारी जीव :- जो राग-द्वेष रूप कषायों से सहित हैं ये गति की अपेक्षा से जीव चार गतियों वाले हैं तथा इन्द्रियों की अपेक्षा जीव पांच इन्द्रियों वाले होते हैं।

चार गतियां :- मनुष्यगति, तिर्यचगति, नरकगति व देवगति।

पांच इन्द्रियां :- स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु (आँखें) और कर्ण (कान)। मुक्त जीव वे हैं जो चतुर्गति के भ्रमण से मुक्त हो जाते हैं। उनके अनन्तसुख अनन्तदर्शन, अनंतज्ञान, अनंत शक्ति आदि तथा अनन्त श्रद्धा आदि गुण प्रकट हो जाते हैं। वे फिर कभी भी संसार भ्रमण नहीं करते।

जैनदर्शन में अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद और अपरिग्रह आदि ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनके आचरण से जीव अनन्त सुख प्राप्त कर लेते हैं। ज्ञान की पूर्ण विकसित पर्याय का नाम केवलज्ञान है, जिन्हें केवलज्ञान हो जाता है, उन्हें उस केवलज्ञान के साथ अनन्त वीतरागता होती है, अनन्त सुख-शान्ति एवं अनन्त बल प्रकट हो जाता है। वे जीव सदा के लिए अनन्त सुखी हो जाते हैं।

उक्त सब वर्णन तत्त्वार्थसूत्र में है।

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का और तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नयो के द्वारा होता है।

प्रमाण :- सच्चे ज्ञान को अर्थात् सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाणज्ञान वस्तु के सर्वदेश (सब पहलुओं) को ग्रहण करता है। तथा -

नय :- प्रमाण द्वारा निश्चित हुई वस्तु के एकदेश + (एक अंश) को ग्रहण करता है। जो प्रमाण द्वारा जाने गये अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक अंग (अंश) का ज्ञान कराता है, उसे नय कहते हैं। वस्तु में अनन्त धर्म, गुण हैं या अंश होते हैं। नय उन अंशों को ग्रहण करता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान :- जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होता है, वह प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्षज्ञान के दो भेद हैं :- 1. सकल एवं विकल।

अवधि व मनः पर्यय विकल अर्थात् एक देश प्रत्यक्ष है। इनके विषय रूपी पदार्थ हैं तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष हैं। यह लोकालोक के समस्त पदार्थों को जानता है।

जैनदर्शन में प्रयोजनभूत निश्चय-व्यवहारनय

वस्तुतः तो निश्चयनय एक ही है; परन्तु प्रयोजनवश इसके चार भेद किये गये हैं। मूल में तो दो भेद ही किये हैं। एक - शुद्धनिश्चयनय, दूसरा - अशुद्धनिश्चयनय। पुनः शुद्ध निश्चयनय के तीन भेद किये। 1. परमशुद्धनिश्चयनय 2. साक्षात्शुद्धनिश्चयनय 3. एकदेशशुद्ध निश्चयनय। इस प्रकार इसके निम्नांकित चार भेद हो गये।

(क) परमशुद्धनिश्चयनय — इसका विषय पर व पर्याय से रहित अभेद—अखण्ड—नित्य वस्तु है। अतः इसका कोई भेद नहीं होता। इस नय की विषय वस्तु ही दृष्टि का विषय है।

(ख) साक्षात्शुद्धनिश्चयनय — यह नय आत्मा को क्षायिक भावों से, (केवलज्ञानादि से) सहित बताता है। ध्यान रहे, इस दूसरे भेद का एक नाम शुद्धनिश्चयनय भी है, जो मूलनय के नाम से मिलता—जुलता है, अतः अर्थ समझने में सावधानी रखें।

(ग) एकदेशशुद्धनिश्चयनय — इस नय से मतिश्रुत—ज्ञानादिपर्यायों को जीव का कहा है। जैसे— मतिश्रुतज्ञानी जीव।

(घ) अशुद्धनिश्चयनय — यह नय आत्मा को रागादि विकारीभावों से सहित होने से रागी—द्वेषी—क्रोधी—अज्ञानी आदि कहता है।

व्यवहारनय का कार्य एक अखण्ड वस्तु में, गुण—गुणी में, पर्याय—पर्यायवान में भेद करके तथा देह व जीव आदि दो भिन्न द्रव्योंमें अभेद करके वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है।

व्यवहारनय के मूलतः चार भेद हैं —

1. उपचरित असद्भूत व्यवहारनय — इस नय से संश्लेश सम्बन्ध रहित परद्रव्य स्त्री, पुत्र, परिवार एवं धनादि को अपना कहा जाता है। इसे न मानने से स्वस्त्री—परस्त्री का विवेक नहीं रहेगा, निजघर—परघर, निजधन—परायाधन आदि का व्यवहार संभव न होने से नैतिकता का हास होगा। लोक व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी।

2. अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय — इस नय से संश्लेश सम्बन्ध सहित देह को ही जीव कहा जाता है, इसे न मानने से द्रव्यहिंसा से बचाव नहीं हो सकेगा अर्थात् राख/कोयला मसलना और पंचेन्द्रिय जीव का गला दबाना एक समान हो जायेगा।

3. उपचरित सद्भूत व्यवहारनय — यह नय विकार एवं गुण—गुणी में भेद करके उन्हें जीव कहता है। जैसे — राग का कर्त्ता जीव, क्रोध का कर्त्ता जीव। इसे न मानें तो संसारी व सिद्ध में भेद नहीं रहने से चरणानुयोग व करणानुयोग के विषय का क्या होगा?

4. अनुपचरित सदभूत व्यवहानय — पर्याय-पर्यायवान, गुण-गुणी में भेद करना। जैसे- आत्मा में केवलज्ञान आदि अनन्त गुण एवं शक्तियां हैं। इसे न मानने से स्वभाव की सामर्थ्य का ज्ञान नहीं होगा।

प्रश्न :- प्रमाण ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर :- सम्यज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

प्रमाण के दो भेद हैं — 1. प्रत्यक्ष प्रमाण 2. परोक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण :- जो ज्ञान पदार्थ को स्पष्ट जानता है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं — 1. सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष 2. पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष :- यह ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थ को एकदेश स्पष्ट जानता है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं — 1. सकल पारमार्थिक 2. विकल पारमार्थिक। विकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो ज्ञान रूपी पदार्थों को बिना किसी की सहायता के स्पष्ट जानता है, इसके दो भेद हैं — 1. अवधिज्ञान 2. मनःपर्यय ज्ञान।

अवधिज्ञान :- जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की मर्यादा सहित रूपी पदार्थ को स्पष्ट जानता है, उसे अवधि ज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान :- जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को स्पष्ट जानता है, उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। मतिश्रुत ज्ञान परोक्ष है, अवधि एवं मनःपर्याय ज्ञान एक देश (आंशिक प्रत्यक्ष है तथा केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है।

केवलज्ञान :- जो ज्ञान त्रिकालवर्ती और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को किसी की सहायता के बिना युगपत (एक साथ) स्पष्ट जानता है, वह केवलज्ञान है एवं वह सकल प्रत्यक्ष है।

मनुष्य जन्म : एक अभिशाप

यह तो सब जानते ही हैं कि जन्म लेना कोई सुखद नहीं है; क्योंकि जन्म होने के पहले इस जीव को 9 माह तक माता के उदर में जेर में लपटे हुए ओंघा लटकना पड़ता है। जब माता गर्म खीर एवं तीखा खाना खाती है और सुकड़ पर बैठती है, तब प्रतिकूलता के कारण उदरस्थ बालक—बालिका को जो दुःख होता है, उसे वाणी से कह पाना संभव नहीं है।

पैदा होते ही जगत जो खुशियाँ मनाता है, वह वास्तव में खुशी नहीं, बल्कि उस बालक—बालिका के ऊपर एक तरह का व्यंग्य है। वे उस हंसी के माध्यम से यह कहते हैं कि इस तरह कब तक रोते रहोगे? यदि सुखी होना है तो स्वयं को जानो, स्वयं को पहचानो और स्वयं में जम जाओ, स्वयं में रम जाओ, अनन्त सुखी हो जाओगे।

कि किसी कवि ने ठीक ही लिखा है—

जब तुम आये जगत में, जगत हंसा तुम रोय।

अब ऐसी करनी कर चलो, पीछे हंसी न होये॥

जन्म के बाद बुढ़ापे तक जो दुःख जीवों पर बीतते हैं, उनसे कोई अपरिचित नहीं है, वे दुःख जीवों ने देखे हैं, भोगे हैं। तथा— जो जन्मा है उसे एक न एक दिन मरना तो है ही। उन मरण के दुःखों से भी कोई अनजान नहीं है। जब तक मुक्ति नहीं होती, तबतक ऐसे ही जन्म—मरण के दुःख जीव अनादिकाल से भुगतता आया है और भुगतता रहेगा। अतः हमें समय रहते चेत जाना चाहिए, ताकि भव—भव में ये दुःख न भोगना पड़ें।

समाज एक समूह विशेष का नाम है। समाज के अनेक रूप हैं। जैसे— जैन समाज, हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज, सिख समाज आदि तथा महिला समाज, पुरुष समाज आदि। इनका वर्गीकरण कर्म के आधार से भी होता है। जैसे व्यापारी वर्ग या ब्राह्मण वर्ग, लुहार, बढ़ई, कुम्भकार, धोबी आदि।

जन्म से कोई छोटा-बड़ा अथवा नीच-ऊँच नहीं होता। जो जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार उसकी जातियों का वर्गीकरण हो जाता है। जो लोग जन्म से जाति विशेष से ही छोटा-बड़ा मानते हैं, उनकी वह मान्यता सही नहीं है। जो कृषि करता है, वह कृषक है, जो व्यापार करता है, वह व्यापारी है।

धीरे-धीरे बीच में ऐसा वर्गीकरण भी हो गया कि जो व्यापार करने लगे वह वैश्य बनिया, ब्राह्मण कथा वाचक एवं धार्मिक क्रिया-काण्ड कराने लगे, क्षत्रियों ने क्षात्र धर्म अपना लिया। अब फिर वही पुरानी पद्धति प्रारम्भ हो गई। बनिया व ब्राह्मण भी खेती करने लगे। कृषक लोग व्यापार करने लगे। अतः कर्म या काम के अनुसार ही जाति का वर्गीकरण उचित है।

वस्तुतः कर्म (कार्य) के आधार पर समाज का निर्माण होना ही सही है। आज तो राज्य शासन भी इसी पक्ष में है। अस्तु।

हमारा प्रयोजन तो यह है कि— समाज का स्वरूप उसके कार्य-कलाप पर ही निर्भर करता है और ऐसा ही होना भी चाहिए। जैसे-जैसे चोरों की, बदमाशों की, कसाइयों की कोई जातियाँ नहीं होती वैसे ही किसी की कोई जाति नहीं है। जो चमड़े का काम करे, उसे चर्मकार कहते हैं।

वर्ण व्यवस्था का भी यही स्वरूप है। जो व्यापार करे वह वणिक, जो दूसरों की रक्षा करे, वह क्षत्रिय, जो वेदपाठ या शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने का कार्य करे वह ब्राह्मण तथा जो सेवा का कार्य करे, वह शूद्र कहा जाता है।

प्राचीनकाल में राजा ऋषभदेव ने भी कर्म के आधार पर ही वर्ण व्यवस्था कायम की थी।

जन्म के बारे में कहा जाता है कि—

अस्मिन् असार संसारे, मृतः को वा न जायते ।

सः जातः येन जातेन, वंशोयाति समुन्नतिं ।।

तथा - सः जातः येन जातेन जाति याति समुन्नतिं ।

तथा - सः जातः येन जातेन विश्वः याति समुन्नतिं ।।

वस्तुतः जगत में उन्हीं का जन्म लेना सार्थक है, जिस जन्म से वंश, जाति और विश्व की उन्नति हो तथा जिस जन्म के बाद पुनः जन्म ही न लेना पड़े।

संस्कार : जीवों को संस्कार दो तरह से प्राप्त होते हैं। (1) पूर्व पीढ़ी से अर्थात् माता-पिता से तथा (2) पूर्व जन्म से यदि पूर्व पीढ़ी के और पूर्व जन्म से संस्कार न आते हों तो पशुओं को जन्म से ही तैरना कैसे आता? चिड़ियों को घोंसला बनाने की ट्रेनिंग कौन देता? चिड़ियां दाना इकट्ठा कहाँ से, कैसे इकट्ठा करतीं, मधुमक्खियों को मधु जमा करने का अभ्यास कौन कराता? इन सबसे सिद्ध है कि उन्हें पूर्व पीढ़ी से और पूर्व जन्म से संस्कार मिले हैं।

रीति-रिवाज - रीति-रिवाज सामाजिक प्रथा का ही एक नाम है। देश में सामाजिक प्रथाओं के दो रूप प्रचलित होते हैं। जिसे सामाजिक नेता सुप्रथा एवं कुप्रथा कहते हैं। वे रीति-रिवाज अपने आपमें भले-बुरे नहीं होते; परन्तु समाज के नेता उन्हें दो रूप में देखते हैं एवं कहते हैं। जैसे- कुछ सुधारवादी नेता दिन में शादी करने को सुप्रथा कहते, दहेज तय न करने न देने को सुप्रथा कहते हैं, शादी में अधिक व्यय न करने को सुप्रथा कहते हैं। सामूहिक विवाहों को सुप्रथा मानते हैं। दूसरे कुछ व्यक्ति इसके विपरीत रात में शादी करने को अपनी शान समझते हैं। रात में शादी करना उन्हें सुविधाजनक लगता है, रात्रि में खान-पान से उन्हें परहेज नहीं होता।

इसी तरह मृत्युभोज को कोई उचित मानते हैं, कुछ उसके विरुद्ध बोलते हैं। कुछ रीति-रिवाजों को ढकोसला कहते हैं तो कुछ उन्हें अनिवार्य मानते हैं। देश-देश के, प्रदेश-प्रदेश के रीति-रिवाज भिन्न-भिन्न हैं, हर जातियों में भी भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज हैं।

वस्तुतः बात यह है कि जो रीति-रिवाज उपयोगी हों, कम खर्चीले हों, दोनों पक्षों पर अनावश्यक आर्थिक दबाव न पड़े, अहिंसक हो, इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

रात्रि में शादी-ब्याह करने से अनेक हानियाँ हैं। अतः अच्छे प्रदर्शन के लाभ में हिंसाजनित कोई काम नहीं होना चाहिए। ●

षष्ठम् अध्याय

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य में राजनैतिक चिन्तन

राजा-रानी का स्वरूप¹

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की कृति शलाका पुरुष भाग-एक में आया है कि- "महाराजा नाभिराय चौदहवें (आखरी) कुलकर थे। इन्होंने अनेक वंश (कुल) स्थापित किये, इस कारण ये कुलकर कहलाते थे। इनका दूसरा नाम मनु था; क्योंकि इन्होंने मानवों को जीवनदान कैसे मिले? यह उपाय बताया था।

राजा ऋषभदेव तीर्थकर के साथ कुलकर भी थे। ये दोनों पदों के धारक थे। इनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती राजा थे और कुलकर भी थे।

आदि के पांच कुलकर राजाओं में मात्र 'हा' दण्ड की व्यवस्था थी अर्थात् अपराधी को मात्र इतना कहना ही पर्याप्त था कि- खेद है कि तुमने यह अपराध किया है, 'मा' शब्द का अर्थ यह है कि आगे ऐसे अपराध मत करना। शेष कुलकर राजाओं ने 'हा' 'मा' के साथ 'धिक' दण्ड की व्यवस्था भी की थी। 'धिक' का अर्थ है कि तुम्हें धिक्कार है जो रोकने पर भी अपराध करते हो। चक्रवर्ती महाराज भरतजी के समय लोग अधिक अपराधी हो गये थे। अतः उन्हें बंधन आदि दण्ड व्यवस्था करनी पड़ी थी।

ऋषभदेव जन्म से तीर्थकर भगवान नहीं थे। जन्म तो बालक ऋषभदेव का हुआ था। तीर्थकर कर्म प्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में आता है और दिव्यध्वनि का खिरना एवं समोशरण की रचना होना आदि तीर्थकर प्रकृति के कारण ही होता है तथा वे भगवान भी तब बनते हैं जब उन्हें केवलज्ञान हो जाता है, फिर भी भावी नैगमनय से उन्हें जन्म से भी तीर्थकर व भगवान कहा जाता है।

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की उम्र 84 लाख की पूर्व की थी, उन्होंने लगभग 83 लाख पूर्व तक राज्य किया। तब तक वे राजा ही थे।

जब राजकुमार ऋषभदेव युवा हुए तो माता-पिता को उनके विवाह की चिंता हुई, विकल्प आया कि— यद्यपि 'ऋषभ' एकदम आध्यात्मिक प्रकृति का है, राग-रंग में उसका मन नहीं लगता। वह निरन्तर आत्मचिन्तन में ही रत रहता है। उसे विवाह के लिए राजी करना आसान नहीं है। लगता है कि वह शादी से इन्कार कर दे, फिर भी हमारा कर्तव्य तो यही है कि हम उसे शादी के लिए प्रेरित करें, योग्य बहू की तलाश करें, फिर होगा तो वही जो होना होगा।

महाराज नाभिराय और राजमाता मरुदेवी ने परस्पर विचार किया और नाना युक्तियाँ सोचकर एक दिन राजकुमार ऋषभदेव के पास गये और कहा— "आओ ऋषभ! हमें तुमसे बहुत जरूरी बात करनी है।"

राजकुमार ऋषभ देव ने कहा— "मैं आपकी प्रसन्नता के लिए आपकी आज्ञा शिरोधार्य करने को तैयार हूँ।"

महाराजा नाभिराय बोले— "बेटा! हमें तुमसे यही अपेक्षा थी, पर बात जरा गंभीर है, चलो तुम्हारे कक्ष में चलकर बात करते हैं।"

नाभिराय ने आगे कहा— "बेटा! अब तुम युवा हो गये हो! अतः अब तुम्हें अपनी माँ की मनोकामना पूरी करनी है, हम जानते हैं कि तुम आत्मकल्याण करना चाहते हो, परन्तु यह काम घर में रहकर भी हो सकता है, हमने तुम्हारे योग्य कन्यायें देख रखी हैं, बस तुम्हारे हाँ करने की देर है।" ऋषभदेव ने सहज ही स्वीकृति देते हुए कहा— "ठीक है, जैसी आपकी इच्छा।"

माँ मरुदेवी सोचने लगी कि हम तो सोचते थे कि उसे यह बात स्वीकृत कराना सहज कार्य नहीं है, पर यहाँ तो कुछ करना ही नहीं पड़ा। सहज स्वीकृति मिल गई।"

"सच है महापुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति ऐसी ही सहज-सरल होती है, तीर्थंकर का जीव है न!" जो मन में होता है, वही वचनों में व्यक्त कर देता है। यही तो सरलता व सहजता है महापुरुषों की। उनमें तत्त्वरुचि और वैराग्य भी रहता और गृहस्थ की भूमिकानुसार राग भी रहता है।

एक ओर तो कुमार ऋषभदेव के यौवनागम में ही ऐसी प्रवृत्ति कि माता-पिता को भी भ्रम हो गया कि यह शादी ही नहीं करेगा और दूसरी ओर 83 लाख पूर्व की वृद्धावस्था में भी नीलांजना का नृत्य देखना। क्या इसमें विरोधाभास सा नहीं लगता? अज्ञानियों को लगता होगा; पर वस्तुतः विरोध नहीं है।

अरे! भाई! कभी-कभी भूमिका की सही पहचान नहीं होने से भी ऐसा भ्रम हो जाता है।

महाराजा नाभिराय और माता मरुदेवी का यह सोचना कि "यह ऋषभ तो शादी ही नहीं करेगा" उनका पुत्र के प्रति अति अनुराग का ही द्योतक था। वैराग्यमय जीवन के साथ शादी का भाव भी रह सकता है, तभी तो उन्होंने पिता-माता के कहते ही सहज 'हाँ' कह दी। तथा चौथे अविरत समकित्ती गुणस्थान में नीलांजना का नृत्य देखना भी आगम विरुद्ध तो नहीं है, अन्यथा ऋषभकुमार ऐसी प्रवृत्ति नहीं करते।

महाराज नाभिराय ने सुन्दर, सुशील, सती और शान्त स्वभावी नन्दा और सुनन्दा— दो कन्याओं के साथ युवराज ऋषभदेव का विवाह कर दिया। राजकुमार ऋषभदेव की दोनों पत्नियाँ राजा कच्छ एवं महाकच्छ की बहिनें थीं।

नन्दा महारानी से 'भरत' आदि सौ पुत्र एवं ब्राह्मी नामक एक पुत्री हुई तथा सुनन्दा से बाहुबली नामक पुत्र और सुन्दरी नामक पुत्री हुई थी। राजा ऋषभदेव तीर्थप्रवर्तक के साथ युगप्रवर्तक भी थे। राजा ऋषभदेव भगवान आदि कब/कैसे बने? यह विषय अलग है। यहाँ तो यह बताने का प्रयोजन था कि बालक ऋषभ से महाराज ऋषभदेव जी क्या/कैसे बने और उन्होंने राजा-रानी का जीवन कैसे जिया ?

सेनापति जयकुमार और उसकी पत्नी सुलोचना

सेनापति जयकुमार दानतीर्थ के प्रवर्तक राजा श्रेयांस के भतीजे थे और चक्रवर्ती भरत के प्रमुख सेनापति थे। वे शूरवीर के साथ ही धर्मवीर भी थे। वे बाद में तीर्थकर ऋषभदेव के 72वें गणधर हो गये थे। उनके अनेक पूर्वभवों की चर्चायें उनकी पत्नी सुलोचना के मुख से महापुराण में प्रस्तुत की गई हैं।

जयकुमार और सुलोचना के पूर्वभव में वे दोनों देव-देवी हुए थे। ये सब पूर्व भवों की चर्चा उन्होंने केवली गुणपाल से सुनी थी। वहाँ से चयकर वे दोनों जयकुमार और सुलोचना हुए हैं। सेनापति जयकुमार अपने कर्त्तव्य में तो सर्वश्रेष्ठ थे ही, समय-समय पर वे अपनी पत्नी सुलोचना के साथ समुद्र, कुलाचल एवं वन-उपवनों में विहार भी किया करते थे। एकबार विहार करते हुए कैलाश पर्वत पर पहुंचे। वहां कारणवश वे सुलोचना से दूर चले गये।

उसी समय इन्द्र अपनी सभा में जयकुमार और सुलोचना के शील की महिमा का वर्णन कर रहा था। उसे सुनकर देव ने उनकी परीक्षा के लिए कांचना नाम की देवी भेजी। वह बुद्धिमती देवी सेनापति जयकुमार के पास जाकर बोली— “इसी भरत क्षेत्र की विजयाद्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी एक मनोहर नाम का देश है। मैं उस देश के राजा की राजकुमारी हूँ। मैंने जबसे आपको सुना, मैं आप पर मोहित हो गई हूँ। आज प्रत्यक्ष दर्शन का सौभाग्य हुआ है। अब मैं अपने काम के वेग को रोक नहीं पा रही हूँ। इस प्रकार कहकर वह कामुक क्रीड़ायेँ करने लगी।

उसकी चेष्टायें देखकर सेनापति जयकुमार ने कहा— “तू इस तरह के पापपूर्ण विचार को त्याग दे। तू मेरी बहिन के समान है। मैंने मुनिराज से व्रत लिया है कि मुझे परस्त्री का संसर्ग विषतुल्य है।”

उस कांचना देवी ने जयकुमार को डराकर वश में करने की अनेक कुचेष्टायें कीं; किन्तु जब उन्हें शील से डिगाने में सफल नहीं हुई और उनकी दृढ़ता से प्रभावित होकर वापिस चली गई तथा अपने स्वामी रविप्रभ से जयकुमार के शील की महिमा कही तो रविप्रभ बहुत प्रभावित हुआ और उसने स्वयं आकर क्षमायाचना की और उसका रत्नों से सम्मान किया।

अन्त में सेनापति जयकुमार ने दीक्षा ले ली और तपश्चरण करते वे भ. ऋषभदेव के 72वें गणधर बने। कहा भी है— जे कम्मे सूरुः ते धम्मे सूरुः इस प्रकार सेनापति जयकुमार जगत में तो शूरवीर थे ही मोक्षमार्ग में भी शूरवीर साबित हुए।

सप्तम अध्याय

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के साहित्य में भौगोलिक एवं आर्थिक चिन्तन

इस अध्याय में मुख्यतः दो बातों पर विचार करने का मुख्य मुद्दा है। प्रथम बात तो पण्डित भारिल्लजी के साहित्य में भौगोलिक चिन्तन और दूसरी बात है आर्थिक चिन्तन।

हम पहले भौगोलिक चिन्तन के विषय में लेखक ने जो हरिवंश कथा की अपनी बात में स्पष्ट की है, उसकी बात करते हैं—

“प्राचीनकालीन विद्याधर राजाओं के आकाश गमन करने आदि के कथन, जो हमें अतिशयपूर्ण लगते हैं, यदि आज के संदर्भ में हम उन्हें सूक्ष्मता से देखें तो असंभव तो कुछ भी नहीं है; क्योंकि आज हम हवाईजहाज, राकेट और हैलीकाप्टर आदि के द्वारा आकाश में उड़ते हुए मनुष्यों को प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं, संभव है ऐसी ही वैज्ञानिक विद्यायें उस समय उपलब्ध रही हों। ऑक्सीजन को साथ में लेकर हम पानी के धरातल पर एवं हिमालय जैसे ऊंचे पर्वतों पर आज भी आराम से पहुंच ही जाते हैं। इस कारण भी पुरानी बातें अटपटी नहीं लगनी चाहिए।

आज तो वैज्ञानिकों द्वारा विज्ञान के क्षेत्र में कम्प्यूटर, मोबाईल, टेलीफोन, टेलीविजन, हवाईजहाज, जलजहाज, रेलें, बसें, मोटर—गाड़ियों की कल्पनातीत भागदौड़ तथा फैंक्स, ई—मेल एवं शरीरविज्ञान आदि एक से बढ़कर एक अंग प्रत्यारोपण आदि के सूक्ष्मतम यंत्र एवं विज्ञान की खोजें और उनके प्रत्यक्ष प्रयोग होते देख रहे हैं। हो सकता है, लम्बे भविष्य के बाद जब दुनिया में पुनः प्रलय जैसी स्थिति होगी और उसके बाद पुनः पाषाणयुग आयेगा तब फिर से भोजनादि कार्यों के लिए भी असि, मसि, कृषि आदि प्रत्येक काम को नये सिरे से प्रारम्भ करना होगा। तत्कालीन व्यक्ति भी इस वर्तमान उपलब्धियों के कथनों में सहसा विश्वास नहीं कर पायेंगे।

वैज्ञानिक अरबों-खरबों वर्षों बाद की आगे की ऐसी घोषणायें आज करने भी लगे हैं, तब उन्हें भी शास्त्रीय या ऐतिहासिक कथनों पर ही विश्वास करना ही पड़ेगा। अतः अपनी बुद्धि से परे अप्रयोजन भूत बातों में अनावश्यक अविश्वास और तर्क-वितर्क करने से कोई लाभ नहीं है, अन्यथा पुराणों में लिखे प्रयोजनभूत तत्त्वों में श्रद्धा कैसे कर पायेंगे? और यदि प्रयोजनभूत, वीतरागता के हेतुभूत स्व-संचालित विश्वव्यवस्था आदि में शंका हो गई, अश्रद्धा हो गई तो हमारा सच्चा मोक्षमार्ग ही खतरे में पड़ जायेगा।' अतः प्रयोजनभूत तत्त्वों में श्रद्धा रखना ही श्रेयस्कर है तथा अप्रयोजनभूत विषयों को गौण करने में ही हमारा हित है।

इन आशंकाओं से बचने के लिए हमारे पूर्वज आचार्यों एवं धर्म के मर्मज्ञों ने हमें यह उपाय बताया है कि जब तक हम अपने दार्शनिक और आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति श्रद्धावान और तत्त्वज्ञान के प्रति पूर्ण निष्ठावान नहीं हो जाते, तब तक हमें अप्रयोजनभूत बातों में एवं भौगोलिक ज्ञान की खोज में अटकना नहीं चाहिए, क्योंकि ये सब भी तो अस्थिर हैं, चलायमान हैं, परिणमनशील हैं। इनमें भी परिवर्तन होता ही रहता है।

भौगोलिक दृष्टि से जल की जगह थल और थल की जगह जल होते देर नहीं लगती। ये घटनायें तो हम आये दिन देखते ही रहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-सब परिणमनशील हैं, अतः व्यर्थ के वितंडा में अपनी श्रद्धा विचलित न करें।

यदि आज की अयोध्या और मथुरा की तुलना प्राचीन अयोध्या और मथुरा से करने बैठ जाओगे तो इसी में अश्रद्धा को उत्पन्न करने वाले सैंकड़ों प्रश्न खड़े हो जायेंगे, जिनका समाधान आज किसी के पास नहीं है। अतः श्रेयस्कर यही है कि कथाओं का मूल प्रयोजन जानकर उनके चरित्रों से सन्मार्ग की प्रेरणा लेकर अध्यात्म के रहस्य को गहराई से जानें और श्रद्धान करें।"

पण्डित भारिल्ल के साहित्य में धनार्जन व्यवस्था

धनार्जन व्यवस्था के सम्बन्ध में यही कथन अधिक उपयोगी है कि अर्थार्जन हमारे शुभ या अशुभ सोच पर निर्भर है। यदि हम न्यायपूर्ण तरीकों से धनार्जन करें तो हम पुण्यार्जन कर सकते हैं, पुण्यार्जन न भी हो तो हम तीव्र पाप से तो बच ही सकते हैं।

आज जो करोड़पति हैं, कल वही पापोदय तथा अपनी भूल से रोड पर भी आ जाता है, धनवान व्यक्ति को निर्धन और निर्धन को धनवान बनते हम निरन्तर आये दिन देखते ही रहते हैं। इनमें एक नहीं अनेक कारण हैं। अंतरंग कारण पुण्य-पाप है तथा बाहर में हमारी भूल से भी हमारा आर्थिक उत्थान पतन होता रहता है।

कोई कहता है कि — पूंजी को बढ़ाने में कल-कारखानें, उद्योग, व्यापार आदि अनेक प्रबल कारण हैं, जिनके माध्यम से हम धनार्जन करने में सफल होते हैं और साधनों की कमी से निर्धन हो जाते हैं। दूसरे कई व्यक्ति कहते हैं कि ये तो पुण्य-पाप का खेल है। जब पुण्य का उदय हो तो पैसा छप्पर फाड़कर आता है और जब पाप का उदय आ जाता है तो तिजोड़ी तोड़कर निकलते भी देर नहीं लगती। दोनों की बातें अपनी-अपनी अपेक्षा से सही हैं। पुण्य-पाप भी कारण बनते हैं, तदनुसार हमारी लापरवाही और होशियारी भी कारण बनते हैं।

एक डाका पड़ा या व्यापार में घाटा लग गया तो व्यक्ति एक रात में ही धनी से निर्धन हो जाता है, और किसी को व्यापार-उद्योग में मुनाफा हो गया तो रोड़पति करोड़पति भी बन जाता है। अतः इस संदर्भ में अधिक सोचने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हां, हमारा दायित्व यह है कि हम जानबूझकर अनुकूलता बनाये रखने के लिए न्याय-नीति का आचरण करें तो इससे पुण्यार्जन भी होगा और साख भी बनी रहेगी। इन सब कारणों से व्यापार में बरकत भी होगी।

राजाओं को रंक और रंक को राजा बनने के उदाहरण भी कम नहीं हैं। एक चौथी क्लास पढ़े मालिक के अन्डर में अनेक पढ़े लिखे डॉक्टर, इंजीनियर, सी.ए. और प्रोफेसर्स काम करते देखे जा सकते हैं। अतः आर्थिक चिन्तन के बारे में भी अधिक विचारणीय बात यही है कि हम पुण्य-पाप एवं लौकिक पुरुषार्थ-मेहनत दोनों को ही माने।

भूतकालीन पुराणों और इतिहासों की पुस्तकों में भी ऐसी घटनायें देखी जा सकती हैं। इसप्रकार की घटनायें भी पण्डित भारिल्लजी के साहित्य में देखी जा सकती हैं। एतदर्थ निम्न कथन देखें।

वहां जो कहा है उसका सारांश यह है कि हम जो भी काम करें अच्छी नियत से करें तथा लोगों को सही सलाह दें, इससे लोगों में अपने प्रति विश्वास पैदा होगा तो व्यवसाय में कई गुनी तरक्की स्वतः हो जायेगी। उदाहरणार्थ संस्कार अध्याय चार के पात्र सुदर्शन के चरित्र को लें।

उसने पिता के कहने पर व्यवसाय तो नहीं बदला, किन्तु उसमें सुधार किया। वहाँ उसने स्वयं को परामर्श देते हुए यह कहा—

काम कोई भलाबुरा नहीं होता, भलाई—बुराई होती है व्यक्ति के विचारों में, यदि विचार नैतिक हैं, तो हर काम नेक हैं, भले हैं और यदि विचारों में अनैतिकता है, लोभ है, लालच है, स्वार्थभावना है, परिणामों में निर्दयता है, क्रूरता है, लड़ाने—भिड़ाने में ही जिसे आनन्द आता है तो वह कोई भी काम क्यों न करे, उस काम को बदनामी ही मिलना है। इसमें काम का क्या दोष है?

यदि आप आज्ञा दें तो... मैं वकालात ही करना चाहता हूँ और इस व्यवसाय को ही सही रूप देना चाहता हूँ।”

‘क्षत्रचूडामणी’ के कथानक में पण्डित रतनचन्दजी ने लिखा है कि —“तद्भव मोक्षगामी जीवन्धर कुमार के पिता महाराज सत्यन्धर यद्यपि यथानाम तथा गुणसम्पन्न, सदा सत्यभाषी, वृद्धों की सेवा करने वाले, पुरुषार्थी, दूरदर्शी और विवेकी सत्पुरुष थे; तथापि होनहार के अनुसार अपनी रानी विजया पर वे इतने अधिक मोहित और विषयासक्त हो गये कि उन्होंने अपने हितैषी मंत्री धर्मचन्द द्वारा सावधान करने पर भी उसकी बात न मानकर अपने राज्य की सम्पूर्ण जिम्मेदारियाँ सत्तालोलुपी मंत्री काष्ठांगार के भरोसे छोड़ दीं।

सत्ता पाते ही काष्ठांगार का मन मचल गया और उसकी बदनियति से महाराजा सत्यन्धर राजसत्ता से सदा के लिए हाथ धो बैठे। काष्ठांगार ने उन्हें मारकर सदा के लिए सत्ता हथियाने की योजना बना ली। कवि ने ठीक ही कहा है —

“विषयासक्तचित्तानां, गुण को वा न नश्यति।

न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक्।।”

जिसका चित्त विषयासक्त हो जाता है, वह विवेकशून्य हो जाता है, उसके सभी गुण नष्ट हो जाते हैं और तो ठीक, उसकी विद्वत्ता, मनुष्यता, बद्धपन और सत्य वचन आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।”

महाराज सत्यन्धर के इस अविवेक के कारण वे स्वयं तो राजसत्ता से हाथ धो ही बैठे, अपनी प्रिय रानी विजया और गर्भस्थ शिशु जीवन्धर को भी संकट में डालने में निमित्त बन गये।

बाद में महाराजा सत्यन्धर का विवेक जागृत तो हो गया था, किन्तु जैसे तरकस से छोड़ा तीर वापिस नहीं आता, उसीतरह विषय वासना के वशीभूत होने का दुष्परिणाम तो भोगना ही पड़ता है। अस्तु —

महाराजा सत्यन्धर ने मयूराकृति विमान में रानी को बिठाकर संदेश दिया कि हे महारानी! तुम शोक मत करो, अपना पुण्य क्षीण हो गया है, इस कारण अनुकूल संयोग का वियोग हो रहा है। यह सब ऐसा ही होना था, कुछ भी अप्रत्याशित नहीं है, अतः वस्तुस्वरूप का विचार कर धैर्य धारण करो।”

जब काष्ठांगार के मन में राजा सत्यन्धर को वध करने का भाव आया तो राजा सत्यन्धर ने पहले तो काष्ठांगार से युद्ध किया, फिर युद्ध में नरसंहार को देखकर युद्ध से विरक्त होकर उन्होंने युद्ध से संन्यास ले लिया और संयम व समाधिपूर्वक देह का त्याग कर देव पर्याय प्राप्त की।”

इस घटना से यह सीख मिलती है कि ‘अन्त भला तो सब भला’। महाराजा सत्यन्धर संयम एवं समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर स्वर्ग सिधारे। इधर कुमार जीवन्धर सेठ गंधोत्कट के घर पल-पुस कर बड़े हो गये, उन्होंने आठ शादियाँ कीं; माँ विजया ने आर्यिका के ब्रत ग्रहण कर आत्मा की साधना कर समाधिमरण कर स्वर्ग प्राप्त किया।

अन्त में जीवन्धर कुमार ने आत्म साधना कर केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त की।

1. संस्कार पृष्ठ 34 से 35 तक अध्याय 4

2. क्षत्रचूडामणी प्रथम लम्ब, श्लोक नं. 1

इस कथा से भी महाराज सत्यन्धर, उनके पुत्र जीवन्धर तथा महारानी विजया के जीवन के उतार-चढ़ाव से यह प्रेरणा मिलती है कि जिसका जब जो होना होता है, तदनुसार बुद्धि हो जाती है। कहा भी है —

तादृशी जायते बुद्धि, व्यवसायोऽपि तादृशः।

सहायाः तादृशाः सन्ति, यादृशी भवितव्यता।।

अर्थात् जैसी होनहार होती है, वैसी बुद्धि हो जाती है, प्रयास भी वैसे ही होते हैं और सहायक भी वैसे ही मिलते हैं।

महाराजा सत्यन्धर, महारानी विजया और जीवन्धरकुमार की जैसी होनहार थी, वैसी ही उनकी बुद्धि होती गई। यह विचार कर ही सबको समता आती है। अतः विचार कर समता धारण करना ही सुखी होने का सही उपाय है। — क्षत्रचूड़ामणी की प्रस्तावना से

शोधकर्ता का एक साक्षात्कार : लेखक से

शोधकर्ता जिनेन्द्रशास्त्री के प्रश्न : पण्डित भारिल्ल के उत्तर

“जब मैंने पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल से उनके बाल्यकाल और व्यक्तित्व विकास के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो पण्डित रतनचन्द भारिल्ल ने अपने बाल्यकाल और व्यक्तित्व विकास के विषय में कुछ कहने से पहले दो ऐसे व्यक्तित्वों का परिचय दिया, जिसे सुनकर कोई भी व्यक्ति आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता।”

पण्डितजी ने कहा— “उन दो में एक तो मेरे पूज्य पिताजी श्री हरदासजी भारिल्ल हैं, जिन्होंने मेरे जन्म के पहले किसी धार्मिक मेले में एक विद्वान वक्ता को सुनकर ऐसा स्वप्न संजोया था, ऐसा संकल्प किया था कि ‘यदि मेरे पुत्र हुए तो मैं उन्हें भी जैनधर्म का ऐसा ही विद्वान बनाऊँगा जैसे ये प्रवचनकार पण्डितजी हैं।”

द्वैतयोग से उनका वह स्वप्न साकार हुआ, उनका वह संकल्प पूरा हुआ। हम दोनों भाई उनकी भावना के अनुसार जिनवाणी के सफल वक्ता बन गये।

मैं गर्व से कह सकता हूँ कि सचमुच मेरे पिताजी उन साधारण

पिताओं जैसे नहीं थे जो अपनी संतान को मात्र अपने बुढ़ापे के सहारे के लिए पालते-पोसते हैं, बल्कि वे ऐसे शिखरपुरुष थे जो अपनी संतान को परहित के साथ आत्मकल्याण के शिखर पर पहुंचाना चाहते थे और हमारे माध्यम से अज्ञानी जगत को तत्त्वज्ञान से परिचित कराना चाहते थे। इतना ही नहीं उन्होंने जीवन के उत्तरार्द्ध में, स्वयं ने भी जैन अध्यात्म विद्या का विद्यार्थी बन कर आद्योपान्त शास्त्रीय अध्ययन करके जिनवाणी के रहस्य को आत्महितार्थ जाना/पहचाना था और अपने मानव जीवन को सार्थक कर लिया था।

दूसरे महापुरुष हैं पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी, जिनके द्वारा किये गये क्रमबद्धपर्याय के उद्घोष से मेरा जैनकुल में जन्म लेना और जैनधर्म का शास्त्रीय ज्ञान सार्थक हुआ, सफल हुआ।

श्रीकानजीस्वामी ने न केवल हम जैसे सैकड़ों सोए हुए सिंह शावकों को जिनवाणी की सिंहगर्जना से जगाया, बल्कि अध्यात्म से अपरिचित सहस्रों स्वाध्यायी श्रावकों को और शास्त्रीय विद्वज्जनों को भी आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों के रहस्य से परिचित कराया जैनजगत में फैली मिथ्या मान्यताओं को जड़मूल से उखाड़ने का साहसी कदम उठाया।

यद्यपि वे जन्मजात वि. जैन कुल में नहीं जन्मे थे, वे श्वेताम्बर (स्थानकवासी) कुल में जन्मे और वहां 45 वर्ष तक बाल ब्रह्मचारी रहकर प्रभावी वक्ता रहे, किन्तु बाद में श्री कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, जयसेनाचार्य जैसे भावलिंगी संत आचार्यों एवं पण्डित जयचन्दजी, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी जयपुर, पण्डित दौलतरामजी सासनी (अलीगढ़) एवं कवि बनारसीदासजी आगरा आदि जैन विद्वानों के शास्त्रों को पढ़कर वे कष्टर दिगम्बर जैन हो गये थे।

X

X

X

ज्यों-ज्यों मैं अपने बाल्यकाल पर दृष्टिपात करता हूँ, बचपन के दिनों को याद करता हूँ, त्यों-त्यों मेरी श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रतिपादित क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा अचल की भांति अटल होती गई। कार्य-कारण की सहज-स्वाभाविक परिणति के संदर्भ में मैं अपने जीवन का निरीक्षण करता हूँ तो एक-एक घटना के निष्पन्न होने में

पांचों समवाय (कारण) बिना मिलाये स्वतः कैसे मिलते गये? यह सोच-सोचकर जैनदर्शन के वस्तुस्वातंत्र्य की श्रद्धा और भी दृढ़ हो जाती है और अपने कर्तृत्व का झूठा अहंकार तत्त्वज्ञानरूपी सूर्य की उष्णता से घी की भांति पिघलकर बहता प्रतीत होता है।

आज से 57 वर्ष पूर्व जब मैं मात्र 23 वर्ष का ही रहा होऊँगा, तब सर्वज्ञता के ठोस आधार पर क्रमबद्धपर्याय की अपूर्व बात मेरे कान में पड़ी थी तो मैं स्तब्ध रह गया था। यद्यपि सर्वज्ञता की बात शास्त्रीय आधार से तो मुझे ज्ञात थी, पर उससे अपने जीवन का तालमेल गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी के द्वारा ही ध्यान में आया।

जब मैं 4-5 वर्ष का रहा होऊँगा तब गाँव में शासन की ओर से शासकीय कर्मचारी चेचक के टीका लगाने वाले आये थे। यद्यपि वे जनता का भला ही चाहते थे, पर गाँव वाले उन्हें अच्छा नहीं मानते थे, वे लोग टीका लगाकर जाते थे कि उनके जाते ही गाँव वाले उन टीकों को गोबर से पोंछ डालते। माँ ने बताया— तेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था। इस कारण कुछ दिनों बाद ही तुझे चेचक निकल आये। सारा शरीर फोड़ोमय हो गया। आँखें महीनों बंद रही। मरते-मरते आखिर बच ही गया। होनहार भली जो थी, मरता कैसे?

जैसे-तैसे गाँव में ही रहकर तथा 5 मील पैदल जाकर ग्राम ननौरा में प्राइमरी स्कूल में प्रारम्भिक पढ़ाई की। उसी समय माँ को बोन टी.बी. हो गई। पिताजी हमें पढ़ने हेतु बाहर विद्यालय में भेजना चाहते थे; पर नजदीकी रिश्तेदार लोगों ने सलाह दी कि— बड़े बेटे को घर के कामकाज को रख लो, छोटे को पढ़ालो। उनकी सलाह उस छोटी सी उम्र में भी मुझे तो अखरी ही, पिताजी को भी अच्छी नहीं लगी। उन्होंने मुझे आश्वस्त किया कि तू चिन्ता मत कर! मैं दोनों को ही पढ़ने भेजूँगा और जैसे भी संभव होगा, घर को भी संभालूँगा। पर, तुम्हारी पढ़ाई चालू रखूँगा, परन्तु एक शर्त है जो पास होता रहेगा, उसकी ही पढ़ाई चालू रहेगी। वह चेलेंज मैंने स्वीकार कर लिया और मैं अनेक प्रतिकूलताओं के बावजूद भी- प्रतिवर्ष परीक्षाओं में पास होता रहा।

शास्त्री, न्यायतीर्थ होते ही 19 वर्ष की उम्र में ही माँ की असाध्य बीमारी में सहयोगी बनाने के लिए मेरी शादी कर दी गई। भाग्य से मेरी पत्नी उस समय मात्र 14 वर्ष की ही थी और अपने परिवार में सबसे छोटी होने के कारण लाड़-प्यार में पली-पुसी थी। अतः उसे घर-गृहस्थी के काम का कुछ भी अनुभव नहीं था। मैं तो शेष पढ़ाई पूरी करने और साथ ही आजीविका हेतु सर्विस करने राजस्थान में दूर-दराज भीलवाड़ा चला गया। अनुभवहीन पत्नी को उसके ससुराल में (साधन विहीन छोटे अपने गाँव में) घर पर ही छोड़ गया। घर-गृहस्थी के काम का भार पड़ने से उसे कठिनाइयाँ तो बहुत हुईं, पर उसने उन कठिनाइयों की परवाह न करते हुए मेरे कहने पर जो काम संभाला, वह प्रशंसनीय तो है ही, अन्य नारियों को अनुकरणीय भी है।

उस समय हमारी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। माँ क्री असाध्य बीमारी और तारुजी के दिवंगत होने के कारण पिताजी का व्यापार (काम-काज) ठप्प सा ही हो गया था। जैसे-तैसे हमने शास्त्री न्यायतीर्थ परीक्षाएँ पास कीं और छोटी उम्र में ही आजीविका हेतु बाहर रहकर सर्विस करनी पड़ी।

मैंने सर्वप्रथम भीलवाड़ा (राज.) के महावीर मिडिल स्कूल में पढ़ाया। उसी समय मेरे अनुज भाई हुकमचन्द भारिल्ल भी वहीं राजस्थान में ही पारोली मिडिल स्कूल में हैड मास्टर बन गये।

हमारा संकल्प था कि हम प्रवचन तो करेंगे पर प्रवचन के पैसे (वेतन) नहीं लेंगे। स्कूल में जो मिलेगा उसी से अपनी आजीविका करेंगे। ऐसा ही हुआ भी।

दो वर्ष बाद हमारे शिक्षा गुरु पण्डित मक्खनलाल जी, प्राचार्य मोरेना महाविद्यालय के आग्रह से मैं मोरेना में ही प्राध्यापक के स्थान पर आ गया और हुकमचन्द मेरे ही साथ मोरेना कॉलेज में अग्रिम पढ़ाई करने लगे; परन्तु वहाँ मात्र 6 माह ही रहना हो पाया और पिताजी के कहने पर हम दोनों भाई व्यापार करने के उद्देश्य से घर पर ही आ गये। उस समय ग्राम पंचायत और ग्रामसभा के चुनाव का वातावरण था। हम दोनों भाइयों ने भी फार्म भर दिये। चुनाव लड़े और हम दोनों जीत भी गये; हमारी जीत हमारे ही निजी लोगों को

रास नहीं आई, अतः कुछ ही समय बाद प्रतिकूल वातावरण देखकर हम लोग स्थायी रूप से सपरिवार बबीना आ गये। वहाँ व्यापार प्रारम्भ किया, प्रारम्भ में कुछ कठिनाइयाँ तो आईं, पर सफलता भी मिली। इस तरह डेढ़ वर्ष ही बीता था कि पूज्यगुरुदेव श्रीकानजीस्वामी के द्वारा निरूपित क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त ने एवं उनके परोक्ष परिचय ने ही हमारी दिशा बदल दी।

श्रीकानजीस्वामी यद्यपि मूलतः स्थानकवासी (श्वेताम्बर) जैन थे और हम उन्हें जानते भी नहीं थे। नाम मात्र सुना था, वे 45 वर्ष तक अपने श्वेताम्बर सम्प्रदाय में रहने के बाद जब उन्होंने संयोगवश आचार्यश्री कुन्दकुन्द, आचार्यश्री अमृतचन्द्र जैसे दिगम्बर आचार्यों और पण्डित टोडरमलजी, पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा, पण्डित बनारसीदासजी जैसे दिगम्बर मनीषी विद्वानों के सत्साहित्य को पढ़ा तो वे कष्टर दिगम्बर जैन हो गये थे। फिर तो स्थानकवासियों ने पहले तो उन्हें अपना मत परिवर्तित न करने हेतु बहुत प्रलोभन दिये, फिर धमकियाँ भी दीं, किन्तु वे न तो किसी प्रकार के प्रलोभनों में आये और न धमकियों से डरे। वे दिगम्बर धर्म में ही रहे और प्रवचनों के माध्यम से दिगम्बर धर्म का ही प्रचार-प्रसार करते रहे।

X

X

X

इधर हम लोग भी यद्यपि जन्मजात शुद्ध तेरापंथी (शुद्धआम्नाय) दिगम्बर जैन कुल में जन्मे थे, जहाँ पारम्परिक दृष्टि से अभी भी कोई धर्मविरुद्ध कार्य नहीं होते; परन्तु प्रारम्भ में हम उस पंथ के बारे में भी जानते कुछ नहीं थे।

अतः हमें अपनी पुरानी परम्पराओं से चिपके रहने में कोई रस नहीं था, कोई लगाव नहीं था। हमारी यह धारणा कभी नहीं रही कि जो हमारा है, वही सच है; बल्कि हम तो यह मानते हैं कि जो सत्य है वह हमारा है, अतः हम हमेशा सत्य की खोज में रहे। यही कारण है कि हमें श्री कानजीस्वामी की खोजपरक दृष्टि को स्वीकार करने में देर नहीं लगी।

मैंने (जिनेन्द्र शास्त्री ने) आगे पूछा — यह तो जाना, पर अब यह बतायें कि आपने व्यापार क्यों छोड़ा और आपका जयपुर आना कैसे हुआ? बीच में और कहाँ/कैसा समय बीता?

उत्तर : मैंने (पण्डित रतनचन्द ने) बताया कि — व्यापार में स्वाध्याय को समय नहीं मिलता और इसी धन संग्रह की वृत्ति में ही क्रीम समय निकल गया तो यह बहुमूल्य मानव जीवन यों ही बीत जायेगा और पता नहीं यह भगवान आत्मा संसार सागर में कहाँ गोते खाता फिरेगा। अतः कोई ऐसा काम चुनना चाहिए जिसमें 5-6 घंटे में आजीविका की व्यवस्था करके शेष समय जिनागम के पढ़ने/पढ़ाने में ही लगे, ताकि आत्मज्ञान हो सके तथा आर्त-रौद्र ध्यान से बचे रह सकें।

यह सोचकर मुझे पुनः सर्विस करने का ही चुनाव सही लगा। अतः इसके बाद मैंने कोटा, अशोकनगर और खुरई में सर्विस की। यद्यपि मैंने तीनों जगह शिक्षण कार्य करते हुए सत्य की शोध को ही प्रमुख रखा और तीनों जगह आजीविका के लिए लौकिक स्कूलों में अध्यापन करते हुए जिनालय में समयसार, मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि पर ही दोनों समय प्रवचन करने की मुख्यता रखी और प्रवचनों के बदले कुछ भी पारिश्रमिक नहीं लिया। साथ ही इंग्लिश लाइन की तैयारी इसलिये करता रहा, ताकि शासकीय सर्विस करके स्वाधीनता—पूर्वक सत्य तत्त्व का प्रचार-प्रसार कर सकूँ। आजीविका के कारण सत्य से समझौता न करना पड़े। (सन् 1962 में) विदिशा में आते-आते उस लक्ष्य की पूर्ति हो भी गई।

मैं विदिशा में अर्द्धशासकीय एस. एस. एल. जैन हायर सैकण्डरी स्कूल में 18 वर्ष रहा और मेरी पत्नी ने भी प्रौढ़ महिला शिक्षा द्वारा हायर सैकण्डरी परीक्षा उत्तीर्ण कर एवं वी.टी.आई. ट्रेनिंग करके शासकीय सर्विस हासिल कर ली और 15 वर्ष तक प्राथमिक स्कूल में शासकीय सेवा की। सभी जगह सुबह-शाम जैन पाठशालाओं में जिनवाणी की सेवा भी नियमित रूप से करते रहे। विदिशा में कॉलेज की ओर से कोई बाधा तो थी ही नहीं, प्रवचन आदि कार्यों में जो भी संभव हुआ वहाँ के मैनेजमेन्ट ने भी मेरा सहयोग ही किया तथा मुझे एम.ए., बी.एड. करने में भी सहयोग दिया।

प्रारम्भ में मैं शास्त्री, न्यायतीर्थ एवं साहित्यरत्न के आधार से संस्कृत व हिन्दी पढ़ाता था। बाद में तो मैंने एम.ए., बी.एड. करके आर्ट के सभी विषय पढ़ाने की अतिरिक्त योग्यता भी प्राप्त कर ली।

इस तरह मैं 18 वर्ष वहाँ रहा। बाद में मैंने जयपुर में मेरे अनुज के पास ही आकर उनके साथ रहने की अपनी चिर अभिलषित अभिलाषा पूरी कर ली।

ज्ञातव्य है कि हम दोनों भाई प्रारम्भ से ही एक ही साथ रहना चाहते थे, एतदर्थ हमने अनेक बार एक साथ रहने के प्रयत्न भी किये, पर चाहने से क्या होता है, होता तो वही है जो होना होता है, जो क्रमबद्ध में होता है।

मैं ऐसे जैन साहित्य का सृजन करना चाहता था, जो आम पाठकों की समझ में आसानी से आ सके, पर उस उद्देश्य की पूर्ति मैं जयपुर में आकर ही कर पाया। उसके पूर्व स्वयं लौकिक बी.ए., एम.ए., बी.एड. आदि की परीक्षाएँ देने के कारण तथा सामाजिक कार्याधिक्य के कारण विदिशा में और उसके पूर्व कोटा, खुरई में लौकिक पढ़ाई के बारे में सोच भी नहीं पाया।

सन् 80 के बाद जयपुर में मेरे पुत्र शुद्धात्मप्रकाश की प्रेरणा एवं आग्रह पाकर मैंने लिखना प्रारम्भ किया तो एक के बाद एक अभी तक सब मिलाकर छोटी-बड़ी 56 पुस्तकें लिख लीं। इस लेखन में मेरे अनुज हुकमचन्द भारिल्ल की भी परोक्ष प्रेरणा रही। प्रायः सभी पुस्तकें हिन्दी, गुजराती एवं मराठी तथा कन्नड़ भाषा में अनेक संस्करणों में प्रकाशित हुई तथा पाठकों द्वारा खूब सराही गईं जिनके कुछ नमूने मेरे अभिनन्दन ग्रंथ में भी प्रकाशित हैं।”

प्रश्न : मैंने (जिनेन्द्र शास्त्री ने) आगे पूछा—आप जो जैनपथप्रदर्शक (पाक्षिक) निकाल रहे हैं। इसका प्रारम्भ कबसे, कहाँ से कैसे हुआ?

उत्तर : सन् 1976 में जब सोनगढ़ साहित्य के विरोध में जगह-जगह पर जिनवाणी को जल में प्रवाहित कर अपमानित किया जा रहा था, उस समय खुरई (म.प्र.) में एक अखिल भारतीय जैन युवा फ़ैडरेशन की स्थापना की गई। उसमें अनेक प्रस्तावों में एक प्रस्ताव यह भी आया कि आन्दोलन के काल में तो युवक जिनवाणी की सुरक्षा में क्रान्तिकारी कदम उठाये; पर शान्तिकाल में नवयुवकों को जैनत्व के संस्कारों को सुदृढ़ करने के लिए कुछ रचनात्मक काम भी करना चाहिए। एतदर्थ एक ऐसी आचार संहिता तैयार की जाये,

जिसमें साप्ताहिक पूजन, प्रतिदिन जिनदेव के दर्शन तथा भक्ष्याभक्ष विचार और समय-समय पर जैन दर्शन के मूल विषयों पर विचार गोष्ठियों का आयोजन हो। एतदर्थ एक ऐसे जैन पाक्षिक पत्र की आवश्यकता अनुभव की गई, जो उक्त उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो और जिससे सौम्य वातावरण बनाया जा सके। ये सब समाचार पाठकों को यथा समय मिलते रहें। एतदर्थ एक नियमित पाक्षिक पत्र निकालने की आवश्यकता अनुभव की गई।

अशोकनगर निवासी स्व. पण्डित श्री हरकचन्द्रजी बिलाला ने ऐसे एक पत्र निकालने का प्रस्ताव रखा। उनके इस प्रस्ताव के अनुसार मुझे (पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल को) उस पाक्षिक समाचार पत्र का सम्पादक चुना गया। मैं उस पत्र के माध्यम से आज भी (34 वर्ष बाद) अपने उद्देश्यों की पूर्ति यथावत कर रहा हूँ।

प्रश्न : (जिनेन्द्र शास्त्री) — आप जयपुर कब/कैसे/क्यों आये? जबकि आपकी 18 वर्ष की सर्विस थी, आपकी पत्नी को भी लगभग 15 वर्ष शासकीय सेवा में हो गये थे, कुछ समय बाद आप दोनों को पेंशन का हक भी मिल जाता।

उत्तर : जयपुर आने का एक कारण तो यह था कि वहाँ हम दोनों (मैं और पत्नी) शासकीय और अर्द्धशासकीय सेवा में लौकिक विषय ही तो पढ़ाते थे, जिसका मुख्य उद्देश्य केवल धनार्जन ही था, चूंकि हम लोगों को प्रारम्भ से ही धार्मिक रुचि थी तो जब हमें आत्मकल्याणकारी धर्म पढ़ाने का अवसर मिला तो हमने उसे प्राथमिकता देना अपना लक्ष्य बनाया।

दूसरा कारण यह रहा कि— हम दोनों भाइयों की एकसी रुचि और परस्पर अगाढ़ प्रेम होने से धर्मज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से हम साथ-साथ रहें—ऐसी हमारी भावना थी। अतः हमें ज्यों ही एक साथ रहने का अवसर मिला तो हम उस अवसर को छोड़ने का लोभ संवरण नहीं कर पाये और हम लौकिक आर्थिक लाभ-हानि की परवाह न करके उसे अपने भाग्य के भरोसे छोड़कर जयपुर आ गये। अध्यापन हेतु यहाँ भी हमारी कमी अनुभव की जा रही थी। अतः यहाँ के अधिकारियों की प्रेरणा और हमारा तत्त्वप्रेम हमें यहाँ जयपुर ले

आया। यहाँ मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर मेरी नियुक्ति हो गई। पत्नी को भी उसकी रुचि के अनुरूप तत्कालीन ट्रस्ट के अध्यक्ष आदरणीय बाबूभाई मेहता द्वारा बालकों को जैनधर्म पढ़ाने के लिये नियुक्ति दे दी गई।

यदि श्रीकानजीस्वामी के शब्दों में कहें तो हमारी क्रमबद्धपर्याय भी ऐसी ही थी। यहाँ हम हर दृष्टि से संतुष्ट हैं, प्रसन्न हैं। हमसे यहाँ आकर जो जिनवाणी की सेवा हुई, छात्रों को जैनधर्म की शिक्षा देने का जो सुयोग बना, वह अन्यत्र कहीं भी संभव नहीं था। मेरे बच्चे का भविष्य तो यहाँ उज्ज्वल बना ही, उसके बच्चे-बच्ची भी अर्थात् मेरे पोता-पोती भी लौकिक पढ़ाई के साथ आत्मकल्याण के मार्ग में लग गये हैं।

जयपुर आने के बाद यहाँ की धर्मप्रिय जैन समाज एवं सामाजिक क्षेत्र में निस्वार्थ भाव से काम करने वाले विशुद्ध परिणामी कार्यकर्ता तथा शिक्षाप्रेमी व्यक्ति भी मेरे निकट परिचय में आये, घनिष्ठ मित्र बन गये।

न केवल जयपुर की जैन समाज, बल्कि जयपुर की बहुभाग आम जनता भी शान्तिप्रिय स्वभाव की है। इन्दिरा गांधी के निधन के कारण जब सारा देश क्रोध की ज्वाला में जल रहा था, उस समय यहाँ के समाज ने शान्ति और विवेक का परिचय दिया था। यहांकी जनता ने सोचा गलती तो एक सिरफिरे व्यक्ति से हुई, सारा देश उसका दण्ड क्यों भुगतें? दण्ड तो अपराधी को ही मिलना चाहिए न? और भी जब-जब ऐसे प्रसंग बने तो यहाँ के जैन व जैनैतर सभी ने अपने हृदय की विशालता का ही परिचय दिया।

यहाँ सभी प्रकार के साधु सन्त आते हैं, समाज उनकी प्रकृति को समझते हुए भी यथायोग्य आदर ही करता है और विनम्र भाव से ठहराने का निवेदन करता है, यहाँ का जैन समाज वातावरण बिगाड़ने वाले किसी को भी प्रोत्साहन नहीं देता। भले ही वे धार्मिक क्षेत्र के साधु-संत हों, राजनैतिक क्षेत्र के नेता हों अथवा शिक्षार्थी हों, किसी को भी यहाँ की जनता से गलत प्रोत्साहन नहीं मिलता।

पण्डित श्री रतनचन्दजी के व्यक्तित्व को जानने के लिए मैं (जिनेन्द्र शास्त्री) 'रत्नदीप' के पन्ने पलट रहा था तो मुझे आदरणीय

बड़े दादा के व्यक्तित्व की यथार्थ जानकारी विषयक एक ऐसे भूतपूर्व विद्यार्थी जितेन्द्र जैन यादव बानपुर का लेख देखने में आया जो जाति से जैन नहीं है तथा जब वह इन्दौर के आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण के अवसर पर जयपुर के विद्यालय में प्रवेश पाने के लिए गया था।

ज्ञातव्य है कि नवीन छात्रों का चयन ग्रीष्मकालीन 18 दिवसीय शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर में ही होता है। वहाँ वह 'जितेन्द्र सिंह यादव' भी गया था। उस समय आ. बड़े दादाजी से उसकी जो बातचीत हुई वह दादाजी के सरल व्यक्तित्व की जानकारी के लिए व्यक्तिगत प्रसंग होने के कारण भी यहाँ देना चाहता हूँ।

जितेन्द्र सिंह यादव ने अपने 'रत्नदीप' के लेख में लिखा है कि "आदरणीय बड़े दादाजी श्री रतनचन्दजी से साक्षात्कार होने का प्रथम सौभाग्य मुझे इन्दौर के शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर में मिला था, जहाँ मैं महाविद्यालय में प्रवेश की अभिलाषा के साथ गया था, जन्म से जैन न होने के नाते महाविद्यालय में प्रवेश को लेकर मेरे अंतस्थल में तरह-तरह के विचार उत्पन्न हो रहे थे, लेकिन जब मेरी पहली मुलाकात बड़े दादाजी से हुई तथा उनके चरण स्पर्श करके मैंने अपना परिचय दिया तो उन्होंने कहा 'अच्छा तो तुम्हीं वो जितेन्द्र सिंह हो जो यादव होकर भी महाविद्यालय में प्रवेश लेना चाहते हो', जब मैं थोड़ा सकुचाया तो मेरे सिर पर आशीर्वाद पूर्ण हाथ रखते हुए बोले— "बहुत अच्छी बात है, अगर तुम प्रवेश लेना चाहते हो तो तुम्हें एडमिशन अवश्य मिलेगा।"

दादाजी तो अपनी बात कहकर आगे चले गये, लेकिन मैं तमाम विकल्प जालों से घिर गया कि समग्र जैन समाज के शीर्षस्थ विद्वान एवं पण्डित टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के प्राचार्य अपनी व्यस्तताओं से घिरे होने पर भी (दादाजी) हृदय से इतने उदार हैं कि मेरे महाविद्यालय में प्रवेश की अनुमति के लिए डाला गया पत्र उन्हें अभी तक याद है तथा संक्षिप्त परिचय पर ही मुझे पहचान गये।

यद्यपि यह घटना अत्यन्त सामान्य थी, किन्तु उनके इस स्नेहपूर्ण व्यवहार ने मेरे हृदय में अनन्त उत्साह का संचार किया, जिससे मुझे 'जिनमत' के पथ में आगे बढ़ने की असीम प्रेरणा मिली।

मैने (जिनेन्द्र जैन) सोचा— सचमुच आपका व्यक्तित्व आपका कृतित्व सूर्य की भांति किसी से छुपा नहीं है। गूढ़ से गूढ़ वस्तुस्वरूप के रहस्य को जिस सरलता से आप प्रस्तुत करते हैं, वह अपने आप में एक अद्वितीय उपलब्धि है। आपकी प्रवचन सभा में बैठा हर व्यक्ति बड़ी आसानी से इस दुषम पंचमकाल में भी मोक्षमार्ग का स्वरूप जानकर उसका पथिक बन सकता है।

आपका अनुशासनात्मक जीवन बिल्कुल नारियल की तरह लगता है, जो ऊपर से तो अत्यन्त कठोर एवं अन्दर से अत्यन्त कोमल एवं सरल होता है। वास्तव में अनुशासनात्मक गतिविधियों में आप जैसी दृढ़ता तथा आध्यात्मिक जीवन में आप जैसी कोमलता एवं सरलता विरले महापुरुषों में ही देखने को मिलती है।

ऐसे हैं हमारे गुरुवर पूज्य बड़े दादाजी, जिनके बारे में शोधकार्य करके मैं गौरवान्वित हूँ। मैं इस शोध प्रबंध के द्वारा उनकी सभी विशेषताओं एवं मानवीय स्वाभाविक कमजोरियों से भी अवगत कराना चाहता हूँ। लौकिक दृष्टि से उनकी व्यक्तिगत कमजोरियाँ भी उनके महान व्यक्तित्व को ही उजागर करती हैं।

जैसे वे बिना कारण अधिक नहीं बोलते। किसी लौकिक कार्यों में अधिक रस नहीं लेते, परन्तु वे अपने कार्य के प्रति इस उम्र में भी पूर्ण सजग हैं। शास्त्र सभा में विद्यार्थियों एवं स्थानीय श्रोताओं को प्रतिदिन नियमित स्वाध्याय कराते हैं। स्वयं भी जिनवाणी के अध्ययन / अध्यापन के प्रति उत्साहवंत हैं। सादा भोजन एवं अल्प विश्राम तथा स्वाध्याय के अलावा घर के किसी काम में कोई रस नहीं लेते। अपने परिवार को भी स्वाध्याय की प्रेरणा बराबर देते रहते हैं। धार्मिक अध्ययन (स्वाध्याय) की प्रेरणा तो देते ही हैं, तदनुसार जिनवाणी को जीवन का अभिन्न अंग बनाने की प्रेरणा भी देते हैं। अत्यन्त प्रतिभाशाली एवं कक्षा 10 तक इंग्लिश माध्यम से अध्ययन करने एवं अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने पर भी अपने पोता-पोती को जैनदर्शन का नियमित छात्र के रूप में रहकर अध्ययन कराया। यह भी उनके अगाध धर्मप्रेम का प्रतीक है।

उपसंहार

'पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' नामक शोध प्रबन्ध में उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत हुआ है। उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं तो हमें उनके व्यक्तित्व के विविध आयाम तो स्वतः दृष्टिगत हो ही जाते हैं, उनका कर्तृत्व भी दृष्टि में आये बिना नहीं रहता; क्योंकि उनके कर्तृत्व से उनका व्यक्तित्व भी जुड़ा हुआ है। जैसा वे लिखते हैं, वह सब उनके जीवन में भी परिलक्षित होता है।

उनका व्यक्तित्व और कर्तृत्व परस्पर में ऐसा समाहित है कि उनके व्यक्तित्व को उनके कर्तृत्व से पृथक् देख पाना संभव नहीं लगता। वे जैसा सोचते हैं, लिखते हैं; उस आदर्शमय जीवन को वे स्वयं वैसा ही जीना भी चाहते हैं, चाहते क्या हैं, वे स्वयं वैसा ही जीवन जीते भी हैं।

उनका व्यक्तित्व अत्यन्त सहज, सरल एवं ऐसा आदर्शोन्मुख है कि उन्हें देखकर ऐसा लगता ही नहीं है कि यह व्यक्ति इतना महान हो सकता है।

देखने-दिखाने में पण्डित भारिल्लजी अत्यन्त सरल, सीधे और अन्तरोन्मुखी वृत्ति के व्यक्ति हैं कि मानो उन्हें किसी से कोई अपेक्षा ही नहीं है। सदैव अपने काम से काम रखने वाले पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। उन्होंने जो उपन्यास शैली में छह कथानक लिखे हैं, उनमें मानो वे स्वयं भी उन कथानकों के प्रमुख पात्रों में कहीं न कहीं दिखते नजर आते हैं। विदाई की बेला, नींव का पत्थर, सुखी जीवन के प्रमुख पात्रों के रूप में वे स्वयं जीते हैं।

पूज्य गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी का सान्निध्य होने से उनके जीवन में जिस शान्ति का संचार हुआ है, वह अद्भुत है। गुरुदेवश्री ने क्रमबद्धपर्याय और वस्तु-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को जिस गहराई से समझाया है, उससे उनके जीवन में तो आमूलचूल परिवर्तन आया ही है, वे चाहते हैं सारा जगत गुरुदेव के द्वारा बताये उक्त सिद्धान्तों को अपना कर सुखी हो जायें।

साहित्यिक दृष्टि से मैथिलीशरण आपके विचारों के अतिनिकट हैं, क्योंकि उनकी भाषा-शैली भी अति सरल एवं सुगम है, हर कोई आसानी से समझ सकता है, दूसरे स्थान पर हरिऔध अर्थात् अयोध्यासिंह उपाध्याय के साहित्य में भी सरलता है। उपन्यास साहित्य की दृष्टि से उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द का प्रभाव पण्डित भारिल्ल के जीवन पर अधिक पड़ा है। यद्यपि मुंशी प्रेमचन्दजी की अधिकांश रचनायें सामाजिक हैं, पर समाज को सन्मार्ग दर्शन देना भी तो साहित्यकार को इष्ट है।

कम पढ़े-लिखे लोग भी जिस साहित्य को आसानी से समझ जायें - यह भी तो अपने आपमें बहुत बड़ी कला है, अतः साहित्य में सरलता की उपेक्षा नहीं होना चाहिए।

निबन्धकारों में रामचन्द्र शुक्ल तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पण्डित भारिल्लजी को अधिक प्रभावित किया है।

पण्डित रतनचन्दजी जयपुर आने के बाद ही अपने लेखन कार्य का प्रारंभ कर पाये हैं। यद्यपि साहित्यिक काम करने की भावना पहले से ही थी। एस. एस. एल. जैन हायर सैकण्डरी स्कूल में वे साहित्य सम्बन्धी काम देखते भी थे, परन्तु समयभाव के कारण वहाँ वे कोई ठोस काम नहीं कर पाये। हाँ जैनपथप्रदर्शक (पाक्षिक) पत्र वहाँ से ही निकालना प्रारंभ किया था, उसके माध्यम से आध्यात्मिक और सामाजिक लेख आदि लिखना भी प्रारम्भ कर दिया था; पर यहाँ साहित्यिक रचना करने से उत्साह भी बढ़ा तथा समय भी मिला। इस कारण यहा साहित्य लिखने का कार्य प्रारंभ कर दिया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के पूर्व मैंने पण्डितजी से जो साक्षात्कार लिया है, उसमें यह सब दर्शाया है, प्रथम अध्याय में पण्डितजी की पूर्वकालीन, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों की चर्चा की है तथा बताया है कि भारतीय धर्म तो उस बगीचे के समान हैं, जिसमें विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्प खिलते हैं। भारतीय धर्म भी विभिन्न प्रकार की विचार-धाराओं से विभक्त था। हिन्दू धर्म भी विभिन्न मत-मतान्तरों में विभक्त था।

शैवमत, राम, कृष्ण के मानने वाले पृथक-पृथक विचारधारा रखते थे। रामभक्त महाकवि तुलसीदास ने परस्पर जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने राम के मुँह से ही कहलाया कि - "शिवद्रोही मम दास कहावे, सोई मम स्वप्नेहु नहि भाव।"

प्रारम्भ में हिन्दुओं में कुछ मतभेद दिखाई दिये; पर बाद में वे सब एक होकर अपने-अपने तरीके से पूजा भक्ति करने लगे। किसी ने किसी का विरोध नहीं किया। राजनीति में सामाजिकता में एवं जातिवाद में भी यही स्थिति बनी।

पण्डित श्री रतचन्दजी के समकालीन राजनीतिक दृष्टि से कुछ उथल-पुथल हुई। विगत लगभग 200 वर्षों से भारत में अंग्रेजों का शासन चल रहा था। इस काल में भारत में ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ। उन्होंने अच्छे स्तर के स्कूल, कॉलेज खोलकर शिक्षा के माध्यम से अपने धर्म का प्रचार किया।

महात्मा गांधी के उदय से जब अंग्रेजी सत्ता समाप्त हुई, तब धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति और साहित्य का विकास हुआ।

शोधप्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में उपन्यास और कहानियों का परिचय कराया है। पण्डितजी के उपन्यास की भाषा की सरलता दृष्टि से प्रेमचन्दजी का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं। मुंशी प्रेमचन्दजी ने जहाँ सामाजिक क्षेत्र चुना है, वहीं पण्डितजी के उपन्यासों की विषयवस्तु धार्मिक है और कथन शैली उपन्यास के रूप में अपनाई है।

आपकी कहानियों का आधार भी धार्मिक है। वस्तुतः पण्डितजी ने सरलता की दृष्टि से उपन्यास और कहानी की पद्धति को अपनाया है, उनका मूल प्रयोजन तो धर्म और संस्कृति का प्रचार-प्रसार करना ही है।

एतदर्थ उन्होंने उपन्यासों में, कहानियों में तथा निबन्ध और पद्य साहित्य में भी धार्मिक भावों को ही मुख्य रखा है।

आपने लगभग 46 वर्ष की उम्र के बाद ही साहित्यिक क्षेत्र में कदम रखा है, पर जितना जो कुछ लिखा, उसमें धार्मिक और जैन संस्कृति का प्रचार-प्रसार एवं जैनधर्म और अध्यात्म को आत्मसात

करना ही प्रमुख लक्ष्य रहा है। आपका मानना है कि इसके सिवाय जगत में और तो सब अपने-अपने पांच समवायों से होना निश्चित ही है, उसमें हमको करना ही क्या है? हां भूमिकानुसार करने का भाव अवश्य आता है; पर.....। भावानानुसार कर्मबंध की प्रक्रिया भी चालू रहती है, अस्तु।

पण्डितजी का साहित्य बहु आयामी है, लेखन, प्रवचन, अध्यापन आदि में उनके लेखन का प्रभाव देखा जा सकता है। उपन्यासों में 'संस्कार' एक ऐसी रचना है, जिसमें वकीलों, डॉक्टरों, इंजीनियरों तथा अध्यापकों के कार्यों को सन्मार्ग दर्शन दिया है। 'विदाई की वेला' में बताया है कि जिनका जीवन समाधिमय होता है, उन्हीं का मरण समाधिपूर्वक (समताभावपूर्वक) होता है। समाधिमरण में धर्मात्मा जीवों के परिणाम कैसे होते हैं? यह बात विदाई की बेला कृति की 16वीं किस्त में अच्छी तरह प्रस्तुत की गई है।

इसी प्रकार सभी उपन्यासों के कवर पृष्ठ भी आकर्षक और उद्देश्यपरक हैं, जो पुस्तक की विषय वस्तु की ओर संकेत करते हैं।

सुखी जीवन में वस्तुस्वातंत्र्य, अकर्तृत्वभाव, पांच समवाय, पांच लब्धियाँ, चार अभाव, पांच भाव, समाधि साधना, स्व-संचालित विश्व व्यवस्था के सिद्धान्त के आधार पर शान्ति, समता, सर्वज्ञता, सिद्धत्व, समाधि एवं पुरुषार्थ की प्राप्ति होने का मार्गदर्शन दिया गया है।

'इन भावों का फल क्या होगा' में अपने भावों का निरीक्षण करके आर्त-रौद्र ध्यानों से वचने एवं धर्म ध्यान करने का संदेश दिया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में सात तत्त्वों का विवेचन एवं सात तत्त्वों की भूलों का विवेचन किया है।

चौथे अध्याय में शलाका पुरुष पूर्वाद्ध के माध्यम से नारी का स्वरूप एवं उसके नैतिक, सामाजिक कर्तव्य का बोध कराया है।

पांचवें अध्याय में भारिल्ल के साहित्य में शलाकापुरुष पूर्वाद्ध प्रथम अध्याय में से कुलकरों का परिचय कराकर जब भोगभूमि समाप्त हो गई तो क्या हुआ, इसका सामान्यज्ञान कराते हुए पहले कुलकर से लेकर 13वें कुलकर पर्यन्त क्रम-क्रम से घटते-घटते

कल्पवृक्ष भी समाप्त हो गये तब 14वें अन्तिम कुलकर महाराजा नाभिराय के पास प्रजा ने जाकर प्रार्थना की कि हे महाराज! काल के प्रभाव से कल्पवृक्ष समाप्त हो गये हैं। यद्यपि कल्पवृक्षों के स्थानापन्न अन्न एवं फल उत्पन्न होने लगे थे, परन्तु प्रजा को अनाज का और फलों का उपयोग कैसे करें? इसका ज्ञान नहीं था।

महाराजा नाभिराय ने प्रजा को आश्वस्त करते हुए कहा— आप लोग निर्भय रहें। यद्यपि कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं; किन्तु उसके बदले में ये अन्न और फल उपलब्ध हैं और यह उपलब्ध होना ही तुम्हारे कल्पवृक्ष हैं। इनसे तुम्हारी भूख शान्त होगी।

इस प्रकार मार्गदर्शन करते हुए यह कहा कि कुछ फल जहरीले भी होते हैं, अतः इनका तुम ध्यान रखना।

शलाकापुरुष पूर्वार्द्ध के दूसरे अध्याय में तीर्थंकर आदिनाथ के नवें पूर्वभव के राजा महाबल के चार मंत्रियों की चर्चा की है। उन चारों मंत्रियों को राजनीति में निपुण बुद्धिमान, स्नेही और दूरदर्शी बताया है। उनके नामों का उल्लेख करते हुए कहा कि उनके नाम महामति, सयिन्नमती, शतमती और स्वयंबुद्ध बताया है। उन चारों में स्वयंबुद्ध निरीश्वरवादी जैनदर्शन का अनुयायी था, शेष तीन शून्यवादी, चार्वाक एवं विज्ञानाद्वैतवादी थे। इस कारण यद्यपि उनमें परस्पर मतभेद होना स्वाभाविक था, परन्तु स्वामी के हित में अपने मतभेदों को गौण करके वे चारों ही मंत्री राज्यशासन की सेवा में तत्पर रहा करते थे। इस कारण राजा महाबल समय—समय पर उन मंत्रियों पर राज्य का उत्तरदायित्व सौंपकर वन—उपवनों में विहार कर मनोरंजन किया करते थे।

एक दिन राजा महाबल के जन्म दिन पर मंगल महोत्सव मनाते हुए अधीनस्थ राजागण, मंत्री, सेनापति, पुरोहित, श्रेष्ठिवर्ग एवं अन्य अधिकारी महाराजा को घेरे बैठे थे। महाराजा महाबल सभी के साथ हंसकर, संभाषण कर सभी को उचित स्थान देकर सभी को संतुष्ट कर रहे थे, सो ठीक है जब सभी अधीनस्थ व्यक्ति अनुकूल होते हैं तो राजा का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है।

लेखक के सम्बन्ध में विशिष्ट व्यक्तियों के विचार -

महामहिम श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील, पूर्व राष्ट्रपति भारत सरकार लिखती हैं - “पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल देश के सर्वश्रेष्ठ विचारकों में से हैं। आपकी पुस्तकें युवाओं को सही मार्ग में लगाती हैं। आपने अपना सम्पूर्ण जीवन छात्रों को संस्कारित करने में समर्पित कर दिया है। उम्र के इस पड़ाव में, जहाँ लोग रिटायर हो जाते हैं, वहाँ भी आप युवाओं की तरह नई पीढ़ी को संस्कारित एवं सृजित कर रहे हैं। आपका यह जीवन सभी को प्रेरणा स्रोत है।”

अनेक विशिष्ट राजनेताओं की दृष्टि में रतनचन्द भारिल्ल -

“महामहिम उपराष्ट्रपति श्री भैरोंसिंहजी शेखावत, गुजरात के राज्यपाल नवलकिशोरजी शर्मा, राजस्थान की मुख्यमंत्री वसुंधराराजे, मध्यप्रदेश की मुख्यमंत्री उमा भारती, राजस्थान के गृहमंत्री श्री गुलाबचन्दजी कटारिया, मध्यप्रदेश के वित्तमंत्री राघवजी आदि अनेक प्रतिष्ठित लोगों के शुभकामना संदेश पण्डितजी के अभिनन्दन के अवसर पर प्राप्त हुए जो ‘रत्नदीप’ ग्रन्थ में यथास्थान प्रकाशित हैं।”

- रत्नदीप, (अभिनन्दन ग्रन्थ) पृष्ठ 8 से 16 तक

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल का व्यक्तित्व - कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट के अध्यक्ष बाबू युगलकिशोरजी ‘युगल’ एम.ए. कोटा लिखते हैं कि विद्वान श्री रतनचन्दजी भारिल्ल मुमुक्षु समाज के वे महान व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने जीवन के सामान्य स्तर से ऊपर उठकर उत्कर्ष के शिखर का चुम्बन किया है। जीवन के प्रथम चरण से ही भारिल्लजी ने विविध स्थानों पर धर्माध्यापक के रूप में समाज एवं धर्म की सेवा करके महान कार्य किया है।

श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के प्राचार्य के रूप में प्रतिष्ठित होने के बाद से आप वहाँ भी अध्यापन का कार्य पूर्ण तत्परता से करने लगे। भारिल्लजी के प्राचार्यत्व में महाविद्यालय की सबसे प्रशंसनीय परम्परा यह रही है कि उनके कुशल अध्यापन, मार्गदर्शन एवं छात्रों के कठिन परिश्रम से महाविद्यालय के छात्र ही राजस्थान बोर्ड की उपाध्याय एवं राजस्थान विश्वविद्यालय की शास्त्री आदि परीक्षाओं में सर्वोच्च अंक प्राप्त करके पुरस्कृत होते रहे हैं। ऐसे महान व्यक्तित्व के प्रति मैं नतमस्तक हूँ।”

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अमरसिंह अमरकोष सेन्ट्रल बुक डिपो, बम्बई, 1907
2. आचार्य पूज्यपाद समाधिशतकम् निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1905
3. आचार्य मम्मट काव्य प्रकाश ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 1960
4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल रस-मीमांसा नागरी प्रचारिणी सभा, वि.सं. 2017
5. आचार्य वसुनन्दि वसुनन्दि श्रावकाचार भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1952
6. आचार्य शुभचंद्र ज्ञानार्णव जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर, 1977
7. आचार्य सोमदेव सूरि यशस्तिलक चम्पू निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1903
8. आचार्य बट्टकेर मूलाचार माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई, वि.सं. 1977
9. आनन्दवर्द्धन देवीशतकम् निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1916
10. आनन्दवर्द्धन ध्वन्यालोक ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी वि.सं. 2019
11. गंगादास छन्दोमंजरी चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1976
12. गुणचन्द्र उत्तर पुराण भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र.सं. 1954
13. जिनसेन आदिपुराण भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् 1963
14. जिनसेन पाश्वाभ्युदय निर्णयसागर मंत्रालय, बम्बई
15. दण्डी काव्यादर्श चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी वि.सं. 2028
16. आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार (जीवकांड) सोलापुर भा.सं. संरक्षण समिति, सोलापुर, 2001
17. पण्डितराज जगन्नाथ रसगंगाधर काशी हिन्दू वि.वि. वि.सं. 2020
18. भर्तृहरि वैराग्यशतकम् चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, वि.सं. 1982
19. भामह काव्यालंकार मोतीलाल बनारसीदास, देहली, 1970
20. भरत नाट्यशास्त्रम् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वि.सं. 2028
21. राजशेखर काव्य-मीमांसा चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1964
22. विश्वनाथ साहित्य-दर्पण चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1976
23. शास्त्री हीरालाल जिन सहस्रनाम भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1954
24. हेमचन्द्र काव्यानुशासन निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् 1934
25. अग्रवाल वासुदेव शरण कादम्बरी एक चाँखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी, 1958
26. अवस्थी बच्चूलाल काव्य में रहस्यवाद पुस्तक सदन, कानपुर, 1965

27. कत्रे एस.एम. भारतीय भाषाएं और राजस्थान अकादमी, जयपुर, 1972
भारतीय संस्कृति में
उनका अवदान
28. कासलीवाल कस्तूरचंद राजस्थान के जैन संत महावीर शोध संस्थान, जयपुर
व्यक्तित्व और कृतित्व 1976
29. कुमार वचनदेव तुलसी के भक्त्यात्मक गीत हिन्दी साहित्य संस्थान, दिल्ली, 1964
30. चतुर्वेदी मंजु हिन्दी साहित्य का इतिहास हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर, 2009
31. जयशंकर प्रसाद काव्यकला और अन्य भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं. 2005
निबन्ध
32. जैन कामताप्रसाद हिन्दी जैन साहित्य का भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1947
संक्षिप्त इतिहास
33. जैन गोकुलचन्द्र यशस्तिलक का पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी, 1983
सांस्कृतिक अध्ययन
34. जैन देवेन्द्रकुमार अपभ्रंश काव्यधारा राजस्थानी अकादमी, जयपुर, 1970
35. जैन पुष्पलता जैन भक्ति काव्य की भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1964
पृष्ठभूमि
36. जैन महावीरप्रसाद डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, 2005
व्यक्तित्व एवं कृतित्व
37. जैन राजकुमार अध्यात्मक पदावली भारतीय ज्ञानपीठ, सं. 1954
38. द्विवेदी हजारी प्रसाद हिन्दी साहित्य का बिहा राष्ट्रभाषा पटना, सं. 2034
उद्भव और विकास
39. नाहटा अगरचन्द्र प्राचीन कवियों की रूपरेखा नाहटा प्रकाशन, बीकानेर, 1962
40. प्रेमी नाथूराम हिन्दी साहित्य का इतिहास जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, 1973
41. मिश्र विश्वनाथ हिन्दी साहित्य का वाणी वितान प्रकाशन वाराणसी
अतीत प्रसाद सं. 2015
42. वर्णी जिनेन्द्र जैन धर्म सार सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1966
43. शास्त्री नेमिचन्द्र प्राकृत भाषा और साहित्य तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1966
का आलोचनात्मक इतिहास
44. शास्त्री जिनेन्द्र मुनि जैन साहित्य में श्रीकृष्ण प्राकृत भारती, जयपुर, 1989
चरित
45. शुक्ल रामचन्द्र जायसी ग्रन्थावली नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2008
46. साध्वी साधना अपभ्रंश का जैन साहित्य भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1991
और जीवन का मूल्य
47. सोनवणे सीताराम हिन्दी गद्य साहित्य प्रकाशक ग्रन्थम, कानपुर, 1992
चन्द्रभानु

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल के प्रकाशन

| मौलिक कृतियाँ | अब तक प्रकाशित प्रतियाँ | कीमत |
|---|-------------------------|-------|
| ०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)(उपन्यास) ६० हजार ५०० | | ३०.०० |
| ०२. विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती) | २ लाख ११ हजार | १५.०० |
| ०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.) | ५४ हजार | २०.०० |
| ०४. सुखी जीवन (हिन्दी, मराठी) (चतुर्थ संस्करण) | २६ हजार | २०.०० |
| ०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.) | ७१ हजार ५०० | ८.०० |
| ०६. जिनपूजन रहस्य (हि., म., गु., क.) | १ लाख ७९ हजार २०० | ४.०० |
| ०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु., क.) | ७६ हजार २०० | ८.०० |
| ०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी) | १० हजार | ७.०० |
| ०९. बालबोध पाठमाला भाग-१ (हि.म.गु.क.त.अं.) | ४ लाख १२ हजार २०० | ३.०० |
| १०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (दो संस्करण हिन्दी) | ८ हजार | ३.०० |
| ११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी) | ३ हजार | ४.०० |
| १२. द्रव्यदृष्टि | ५ हजार | ४.०० |
| १३. हरिवंश कथा (चार संस्करण) | १४ हजार | ४०.०० |
| १४. षट्कारक अनुशीलन (दो संस्करण) | ५ हजार | ४.०० |
| १५. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (चार संस्करण) | ९ हजार | ३०.०० |
| १६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (चार संस्करण) | ७ हजार | ४०.०० |
| १७. ऐसे क्या पाप किए (तीन संस्करण) निबंध | १२ हजार | १८.०० |
| १८. नींव का पत्थर (उपन्यास)(पाँच संस्करण) | १५ हजार | १४.०० |
| १९. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद) | ५ हजार | ३.०० |
| २०. तीर्थकर स्तवन | ५ हजार | १.०० |
| २१. साधना-समाधि और सिद्धि (दो संस्करण) | ५ हजार | ५.०० |
| २२. चलते फिरते सिद्धों से गुरु (दो संस्करण) | १० हजार | १८.०० |
| २३. जान रहा हूँ देख रहा हूँ (कहानियाँ)तीन संस्करण | १० हजार | १०.०० |

| | | |
|---|-------------|-------|
| २४. पंचास्तिकाय परिशीलन | ३ हजार | ५०.०० |
| २५. यदि चूक गये तो (तीन संस्करण) | ५ हजार | १५.०० |
| २६. जिन खोजा तिन पाइयाँ (तीन संस्करण) | ५ हजार | १२.०० |
| २७. ये तो सोचा ही नहीं (उपन्यास)(चार संस्करण) | १५ हजार १०० | १६.०० |
| २८. जम्बू से जम्बू स्वामी (कथानक) | ५ हजार | ६.०० |

सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) -

| | | |
|---|---------------|--------|
| २९ से ३९. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट) | | १६०.०० |
| ४०. सम्यग्दर्शन प्रवचन | ३ हजार | १५.०० |
| ४१. भक्तामर प्रवचन | ३८ हजार ४०० | १८.०० |
| ४२. समाधिशतक प्रवचन | ३ हजार | २५.०० |
| ४३. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२) | ८ हजार २०० | ८.०० |
| ४४. गागर में सागर (प्रवचन) | २३ हजार ६०० | ७.०० |
| ४५. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में | १ लाख ५४ हजार | ५.०० |
| ४६. गुणस्थान-विवेचन | ३० हजार ५०० | ३५.०० |
| ४७. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह) | २७ हजार २०० | १२.०० |
| ४८. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह) | ११ हजार | ११.०० |
| ४९. अध्यात्म वरणी (तारण स्वामी) | | |

जैनपथप्रदर्शक के ९ विशेषांक -

| | |
|--|-----------|
| १. आ. श्री कुन्दकुन्द विशेषांक अगस्त (द्वितीय) १९८८ | पृष्ठ २८२ |
| २. समयसार विशेषांक सितम्बर (द्वितीय) १९८९ | पृष्ठ २२८ |
| ३. कुन्दकुन्द वाणी के प्रसार श्री कानजीस्वामी का योग, १९९० | पृष्ठ २२८ |
| ४. श्री बाबूभाई स्मृति विशेषांक १९८५, | पृष्ठ २५२ |
| ५. मनीषियों की दृष्टि में समयसार | पृष्ठ २२८ |
| ६. निमित्त उपादान विशेषांक, | पृष्ठ ९२ |
| ७. पण्डित खेमचन्दभाई स्मृति विशेषांक | पृष्ठ १२८ |
| ८. श्री रामजीभाई स्मृति विशेषांक १९८२ | |
| ९. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव विशेषांक १९९१ | |